

वैदिक राष्ट्र-दर्शन





महामहोपाध्याय बाल शास्त्री हरदास

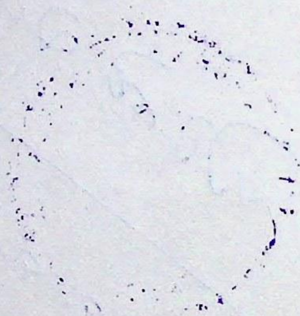
वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड २

वेदों का अंतरंग

२९-९-९१

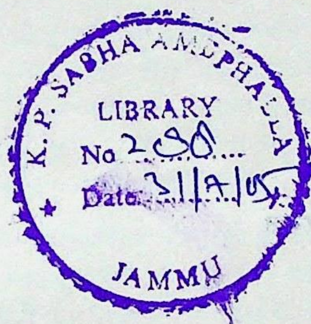
भोपाल



वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड : २

वेदों का अंतरंग



लेखक

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास

अनुवादक

कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन



सुरुचि साहित्य

केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-११००५५

प्रकाशक :
सुरुचि साहित्य
केशवकुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली-११००५५

© वीणा हरदास

प्रथम संस्करण : १९८२

मूल्य : १४/-

मुद्रक :
किरण मुद्रण केन्द्र, ए ३८/२ मायापुरी, नई दिल्ली।

Vedic Rashtra-Darshan Part II (Indology)
By Bal Shastri Hardas

Rs. 14/-

प्रकाशकीय

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास की विभिन्न स्थानों पर कई कई दिन की व्याख्यानमालायें चला करती थीं। विद्या-व्यासंगियों की नगरी पूना में तो वे इतने लोकप्रिय हुये कि वहाँ पर लगातार सत्रह वर्ष तक प्रतिवर्ष उनकी व्याख्यानमाला का आयोजन होता रहा। वहीं की चौथी और पांचवीं व्याख्यानमाला का विषय था—'वैदिक राष्ट्र-दर्शन'।

चौथी व्याख्यानमाला में उन्होंने विषय के पूर्वार्द्ध को पूर्ण किया। इसी पूर्वार्द्ध को हम तीन खण्डों में प्रकाशित कर रहे हैं। प्रथम खण्ड में 'वेदों का वहिरंग', द्वितीय खण्ड में 'वेदों का अन्तरंग' तथा तृतीय खण्ड में 'वेदों का आध्यात्मिक अन्तरंग' का प्रतिपादन किया गया है। कुल मिला कर वैदिक काल में हमारा राष्ट्र-जीवन कैसा था, इसका एक अच्छा चित्र ग्रन्थ के वाचन से पाठक के मानस-पटल पर उभर कर आ जाता है।

शास्त्री जी की विद्वत्ता और उनके चिन्तन की छाप विचारशील लोगों पर कितनी गहरी है, यह इसी से प्रकट है कि जैसे ही यह समाचार प्रकाशित हुआ कि 'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' के तीन खण्ड हिन्दी में प्रकाशित होने जा रहे हैं, तो लगभग एक हजार लोग इसके प्रकाशन-पूर्व ग्राहक बन गये। हिन्दी जगत में यह अपने आप में एक कीर्त्तिमान है।

मूल व्याख्यानमाला मराठी में थी। उसी को ग्रन्थरूप में 'वेदांतील राष्ट्र-दर्शन' नाम से प्रकाशित किया गया। उसका अंग्रेजी रूपान्तर किया श्री शि. शं. आपटे ने और वह १९६७ में प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी जगत के सामने ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ को लाने का बीड़ा उठाया श्री कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन ने। यह उनका स्वान्तः सुखाय प्रयास था।

श्री सुदर्शन का जन्म १८ जून, १९३१ को वर्तमान मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में हुआ। पिता श्री सीतारामैया शासकीय सेवार्थ दक्षिणी कर्नाटक से मध्यप्रदेश में आये थे, अतः श्री सुदर्शन की शिक्षा-दीक्षा भी मध्यप्रदेश में ही हुई। १९५३ में जबलपुर विश्वविद्यालय से बी. ई (आनर्स) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अगले ही वर्ष (१९५४) से वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्त्ता हो गये। १९६४ से लेकर १९७७ तक मध्य-

प्रकाशक :
सुरुचि साहित्य
केशवकुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली-११००५५

© वीणा हरदास

प्रथम संस्करण : १९८२

मूल्य : १४/-

मुद्रक :
किरण मुद्रण केन्द्र, ए ३८/२ मायापुरी, नई दिल्ली।

Vedic Rashtra-Darshan Part II (Indology)
By Bal Shastri Hardas

Rs. 14/-

प्रकाशकीय

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास की विभिन्न स्थानों पर कई कई दिन की व्याख्यानमालायें चला करती थीं। विद्या-व्यासंगियों की नगरी पूना में तो वे इतने लोकप्रिय हुये कि वहाँ पर लगातार सत्रह वर्ष तक प्रतिवर्ष उनकी व्याख्यानमाला का आयोजन होता रहा। वहीं की चौथी और पांचवीं व्याख्यानमाला का विषय था—'वैदिक राष्ट्र-दर्शन'।

चौथी व्याख्यानमाला में उन्होंने विषय के पूर्वार्द्ध को पूर्ण किया। इसी पूर्वार्द्ध को हम तीन खण्डों में प्रकाशित कर रहे हैं। प्रथम खण्ड में 'वेदों का बहिरंग', द्वितीय खण्ड में 'वेदों का अन्तरंग' तथा तृतीय खण्ड में 'वेदों का आध्यात्मिक अन्तरंग' का प्रतिपादन किया गया है। कुल मिला कर वैदिक काल में हमारा राष्ट्र-जीवन कैसा था, इसका एक अच्छा चित्र ग्रन्थ के वाचन से पाठक के मानस-पटल पर उभर कर आ जाता है।

शास्त्री जी की विद्वत्ता और उनके चिन्तन की छाप विचारशील लोगों पर कितनी गहरी है, यह इसी से प्रकट है कि जैसे ही यह समाचार प्रकाशित हुआ कि 'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' के तीन खण्ड हिन्दी में प्रकाशित होने जा रहे हैं, तो लगभग एक हजार लोग इसके प्रकाशन-पूर्व ग्राहक बन गये। हिन्दी जगत में यह अपने आप में एक कीर्त्तिमान है।

मूल व्याख्यानमाला मराठी में थी। उसी को ग्रन्थरूप में 'वेदांतील राष्ट्र-दर्शन' नाम से प्रकाशित किया गया। उसका अंग्रेजी रूपान्तर किया श्री शि. शं. आपटे ने और वह १९६७ में प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी जगत के सामने ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ को लाने का बीड़ा उठाया श्री कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन ने। यह उनका स्वान्तः सुखाय प्रयास था।

श्री सुदर्शन का जन्म १८ जून, १९३१ को वर्तमान मध्यप्रदेश के रायपुर नगर में हुआ। पिता श्री सीतारामैया शासकीय सेवार्थ दक्षिणी कर्नाटक से मध्यप्रदेश में आये थे, अतः श्री सुदर्शन की शिक्षा-दीक्षा भी मध्यप्रदेश में ही हुई। १९५३ में जबलपुर विश्वविद्यालय से बी. ई (आनर्स) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त अगले ही वर्ष (१९५४) से वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्णकालिक कार्यकर्त्ता हो गये। १९६४ से लेकर १९७७ तक मध्य-

भारत प्रान्त के प्रान्त प्रचारक तथा १९७७ से १९८० तक पूर्वाञ्चल क्षेत्र के क्षेत्रीय प्रचारक के नाते कार्य करते रहे। आजकल वे अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख हैं। हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेजी भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार है। इसके साथ ही शास्त्रीजी से उनकी पर्याप्त घनिष्टता थी, अतः उनके अन्तरंग से परिचित होने के कारण अनुवाद में कहीं भाव-दोष भी नहीं आने पाया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की मूल प्रेरणा हमें प्राप्त हुई श्रीमान् बापूराव मोघे जी से। विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित उत्तम ग्रन्थों को हिन्दी जगत के सम्मुख लाने की एक व्यापक-योजना उनके मस्तिष्क में थी। ऐसे उत्तम ग्रन्थों की एक सूची भी वे तैयार कर रहे थे। तदनुरूप ही सुरुचि साहित्य ने प्रकाशन की बृहद् योजना तैयार की थी। किन्तु गत दो-तीन वर्ष से उनके पर्याप्त अस्वस्थ होने के कारण हम उनके मार्गदर्शन से वंचित हो गये। यह ग्रन्थ उन्हीं की अपूर्व देन यदि कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्वर्गीय श्री शास्त्रीजी की धर्मपत्नि श्रीमती वीणा हरदास ने ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देकर उत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के हमारे स्वप्न को साकार करने में पर्याप्त सहायता की है। हम उनके भी आभारी हैं।

ग्रन्थ का यह द्वितीय खण्ड पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। हम आशा करते हैं कि पाठक गण अपनी प्रतिक्रिया से हमें अवगत करेंगें।

अनुक्रमणिका

१. **वेदों में तेजस्वी जीवनवाद** ९—३०
[चरैवेति-चरैवेति-१४ प्रवृत्ति निवृत्ति-१७ साम्यवादी विपर्यास-१९]

२. **वैदिक जीवनवाद की धारणा** ३१—६७
[वैदिक आर्यों की नीतिमत्ता-३९ सरमा-पणि संवाद-४७ द्यूतसूक्त-५१ विवाह संस्था-५४]

३. **वैदिकराष्ट्र की शिक्षण-पद्धति** ६८—९९
[भारतीय शील के सम्बन्ध में परकीयों का अभिमत-६९ ब्रह्मचर्याश्रम-७१ ब्रह्मचर्य दीक्षाग्रहण-७९ उपनयन संस्कार-८१ उपाकर्म संस्कार-८४ उत्सर्जन संस्कार-८७ समावर्तन संस्कार-८७ सैन्य प्रशिक्षण-८९ नियम-उपनियम-९० दिनचर्या-९३ भिक्षाटन-९३ संयमित जीवन-९७]

४. **वेदकालीन गुरु शिष्य व शिक्षण** १००—११९
[पाश्चात्य पद्धति के दोष-११३ निष्कर्ष एवं सिद्धान्त-११५ दीक्षान्त उपदेश-११७]

५. **वैदिक स्त्री** १२०—१३५
[अर्धांगिनी-१२१ उपनयन एवं वेदाध्ययन-१२२ उत्कृष्ट गृहिणी और वात्सल्यमयी माँ-१२७ वीर, विदुषी एवं भक्तिमती-१३३]

शब्दानुक्रमणिका १३७—१४४

१

वेदों में तेजस्वी जीवनवाद

गत डेढ़ सौ वर्षों के पारतंत्र्य के संस्कारों एवं चतुर्दिक प्रचार के कारण 'वेद' के संबंध में जिन अनेक सहज कल्पनाओं (Tentative Suggestions) को सिद्धान्त कहकर मान लिया गया था उनके स्वरूप का हमने अब तक अनुशीलन किया। एक प्रकार से हमने गत छः अध्यायों में वेदों के बहिरंग का परीक्षण किया। अब इस अध्याय से वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित राष्ट्र-जीवन के अंतरंग का दर्शन हमें करना है। परंतु उसके पूर्व अब तक जिस विषय का मंडन किया है उसका दस-पाँच वाक्यों में सिंहावलोकन कर लेना हितावह होगा।

अपने इस नवोदित स्वातंत्र्य के अवसर पर राष्ट्र-निर्मिति का प्रश्न हमारे सामने समुपस्थित है। हम जिस भारतीय राष्ट्र के घटक हैं, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले अमर राष्ट्र के रूप में जगत् के राष्ट्रों की श्रेणी में अपने वैशिष्ट्य से देदीप्यमान रहा है। इस राष्ट्र का सिद्धस्वरूप हमें वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता हैं। नवीन जीवन मंदिर की निर्मिति के पूर्व अपने राष्ट्र की इस सिद्धस्वरूप अस्मिता को पहचान कर उसे आधारशिला के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। इस कारण वैदिक साहित्य की ओर हमें दृष्ट्योन्मुख होना चाहिए।

वैदिक साहित्य का विचार करते ही स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चार वेदों में से प्राचीनतम कौनसा है ? परन्तु यदि हम यह समझ लें कि यज्ञसंस्था के ऋत्विजों के उपयोग के लिए एक ही वेदराशि के ये चार भाग किये गये तो पौर्व्यापौर्व्य का विवाद निर्मूल हो जाता है। इसलिए अभ्यासक को यह दृष्टिकोण रखना आवश्यक है कि वेद एक ही है। वेद कहते ही उसका काल कौन सा होगा यह प्रश्न भी स्वाभाविक ही है। परन्तु काल-निर्णय के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तथा निर्णायक माने जाने वाले ज्योतिष, भाषा, भूस्तरादि शास्त्र सदोष व अस्थिर सिद्ध होते हैं और अंत में कालनिर्णय के संबंध में प्राचीन व अर्वाचीन दोनों को भी अर्थ के किंचिदन्तर से 'अनादि' विशेषण का ही अपरिहार्य रूप से आश्रय लेना पड़ता है। इस अनादि साहित्य में जिनका जीवन प्रतिबिंबित हुआ है उन आर्यों के बारे में कहा जाता

है कि वे श्वेतवर्णीय, सरल नासिकायुक्त व विशिष्ट मुखाकृति के अभारतीय लोग थे जो, कोई कहते हैं मध्य एशिया से, कोई कहते हैं यूरोप से, तो कोई कहते हैं कि उत्तरध्रुव प्रदेश से, भारत में आये व उन्होंने यहाँ के मूलनिवासियों को अथवा अपने से पहले आकर वसे हुए अनार्य द्रविड लोगों को जीतकर इस देश पर अपना व्यावहारिक व सांस्कृतिक वर्चस्व प्रस्थापित किया। यह भी कहा जाता है कि जिन द्रविडों को आर्यों ने जीता वे श्रेष्ठ संस्कृतिसंपन्न थे। परन्तु वैदिक साहित्य के द्वारा इनमें से एक भी वात सिद्ध नहीं होती और न ही उन्हे सिद्ध करने के लिए कोई अन्य प्रमाण ही उपलब्ध हैं। वेदों में आर्य व अनार्य वंशवाचक नहीं, गुणवाचक शब्द हैं। आर्य काले भी थे तथा आर्य व अनार्य समान शरीर वाले थे ऐसे उल्लेख वेदों में हैं। यही नहीं, आर्य के अनार्य व अनार्य के आर्य भी हो सकते थे। यदि यह शब्द वंशवाचक होता तो यह कभी भी संभव न होता। यज्ञ संस्कृति को मानने वाले तथा ६३ या ६४ वर्णों की भाषा बोलने वाले आर्य और जो **'अयज्वे'** एवं उच्छृंखल थे वे अनार्य, यही आर्य व अनार्य शब्दों का वास्तविक अर्थ है तथा यूरोपियन शब्द 'आर्यन्' से उनका कोई संबंध नहीं है। द्रविड नाम के एक भिन्न वंश का अस्तित्वमान्य कर लेने पर भी वैदिक संस्कृति से भिन्न किसी द्रविड संस्कृति का अस्तित्व वेदों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। और इसीलिए सिंध में मोहन्जोदड़ो के उत्खनन में प्राप्त संस्कृति वस्तुत: वैदिक संस्कृति ही है। इसीलिए प्रस्तुत ग्रंथ में यथासम्भव आर्य शब्द का प्रयोग न कर वैदिक शब्द का प्रयोग किया गया है। ये वैदिक लोग हिंदुस्थान में रहते थे या बाहर से कहीं आये, इसका संपूर्ण विचार कर हमने देखा कि लोकमान्य के ध्रुव सिद्धान्त को मानते हुए भी आर्य हिंदुस्थान के ही सिद्ध होते हैं एवं भारत को ही उनका मूलगृह मानना अधिक युक्तिसंगत है। अब तक हमने जिस विषय का सविस्तार, समस्त उपलब्ध प्रमाणों सहित तथा उन प्रमाणों की छानबीन कर विचार किया एवं उससे जो सिद्धान्त निकाले, उनका यह थोड़े में सिंहावलोकन है। अब वेदों में दृष्टिगोचर होने वाले वैदिक राष्ट्र के अंतरंग की ओर हम दृष्टि-क्षेप करें।

वेदरूपी साहित्य मंदिर के द्वार में से अंदर झाँकते ही वैदिक राष्ट्र के तेजस्वी जीवनवाद से आँखें चौंधिया जाती हैं इसमें संदेह नहीं। हिन्दू धर्म की अनेकानेक विकृतियों ने आगे जिस नैराश्यवाद को जन्म देकर जगत् एवं जीवन की ओर देखने की **'सर्वं दुःखं सर्वं क्षणिकं'** की दृष्टि उत्पन्न की, उसका लेश भी वेदों में दृष्टिगोचर नहीं होता। शोपेनहर नाम के एक पाश्चात्य जर्मन तत्त्वज्ञ ने अपने ग्रंथ* में **सर्वं दुखं** वाली भारतीय विकृति के अनुसार

---

*World as Will and Representation.

ही संसार के दुःख का वर्णन किया है। वह कहता है: "मनुष्य की कुल सुखेच्छाओं में जितनी सुखेच्छाएं सफल होती हैं उतने प्रमाण में हम उस मनुष्य को सुखी मानते हैं। और यदि सुखोपभोग सुखेच्छा की अपेक्षा कम हुआ तो उतना ही हम उस मनुष्य को दुःखी मानते हैं। यही प्रमाण गणित की पद्धति से दिखाना हो तो सुखोपभोग में सुखेच्छा का भाग देकर सुख को सुखोपभोग/सुखेच्छा लिख सकते हैं। परन्तु यह अपूर्णांक कुछ ऐसा है कि उसका हर याने सुखेच्छा, अंश याने सुखोपभोग की तुलना में सदैव अधिक गति से बढ़ा करता है। इस कारण यह पूर्णांक यदि पहले १/२ रहा तो आगे चलकर ३/१० याने अंश तिगुने तो हर पाँच गुने प्रमाण में बढ़कर अधिकाधिक अपूर्ण होता जाता है। इस कारण मनुष्य के पूर्ण रूप से सुखी होने की आशा रखना ही व्यर्थ है।" लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में इस दुःखवाद का मंडन करते समय शोपेनहर के इस गणित को उद्धृत किया है तथा आगे स्पेन देश का एक मजेदार उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं: "स्पेन देश में मुसलमानी राज्यकाल का तीसरा बादशाह अब्दुल रहमान बड़ा न्यायी व पराक्रमी था। उसने यह देखने के लिए कि अपने दिन कैसे बीतते हैं, एक रोजनामचा बनाया था। उसको देखने पर आखिर उसे ऐसा दिखाई दिया कि ५० वर्षों के राज्यकाल में उसके केवल १४ दिन ही सुख के बीते थे।" शोपेनहर ने इसके भी आगे जाकर यह कहा है कि मनुष्य प्राणी यदि जन्म ही न ग्रहण करे तो सर्वोत्तम होगा, और यदि जन्म ग्रहण कर ही लिया तो तरुणाई में मर जाना ही श्रेयस्कर होगा। यह विलक्षण निराशावाद वेदों में किंचित् भी दिखाई नहीं देता। समस्त जगत को जीवन शक्ति प्रदान करने वाले सूर्य की ओर देखकर ऋग्वेद का ऋषि कहता है: **"तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्"** (ऋग्वेद ७,६६,१६)। "देवों का हित करने वाला यह तेज हमारे सामने प्रगट हुआ है। हम सौ वर्ष देखें, हम सौ वर्ष जियें।" उन्हें सौ वर्ष जीने की पूर्ण इच्छा है। परमेश्वर ने हमें जन्म दिया इसका उन्हें शोपेनहर के समान कोई दुःख नहीं है, उल्टे वे इसे उसका उपकार समझकर उसके प्रति कृतज्ञ हैं। तरुणाई में मर जाने की अमंगल इच्छा न रखते हुए वे सौ वर्ष ही नहीं, उससे भी अधिक जीने की इच्छा रखते हैं, और इस संपूर्ण जीवन में अपनी समस्त इंद्रियों को कार्यक्षम बनाये रखना चाहते हैं। वेदों के किसी कोने में नहीं अपितु चारों ही वेदों में, और आगे ब्राह्मण ग्रंथों में भी उनकी यह भावना प्रगट हुई हम देखते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कुछ प्रतिनिधि स्वरूप वेद वचनों को हम देखें—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतम्।
जीवेम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतम्।

अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ।

—शुक्ल यजुर्वेद ३६, २४।

बुद्धेम शरदः शतम् । मोदाम शरदः शतम् ।
भवाम शरदः शतम् । अजिताः स्याम शरदः शतम् ।

—तैत्तिरीयारण्यक ४, ४२।

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशाः अशोणा दन्ताः बहुबाह्वोर्बलम् ॥१॥
ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ।

—अथर्ववेद कांड १९ सू० ६० से ६३ तक।

"देवताओं का प्रिय, तेज का अखंड पुंज, विश्व का सर्वसाक्षी सूर्यनारायण पूर्वदिशा में उदयगिरि पर उदित हुआ है। उस देव के कृपाप्रसाद से हम सौ वर्ष आँखों से अच्छी तरह देखे। सौ वर्ष तक कानों से अच्छी तरह सुनें। सौ वर्ष तक वाणी से धड़ाधड़ बोलते रहें। सौ वर्ष हम दैन्य रहित रहें। यही नहीं, किसी भी प्रकार का दैन्य हमारे जीवन में उत्पन्न न होते हुए हम सौ वर्ष ही क्या, उससे भी अधिक काल तक जीते रहें। सौ वर्ष तक हमारी ज्ञान ग्रहण शक्ति अखंड रूप से दीप्तिमान रहे व हमें स्थिर जीवन प्राप्त होवे। हमें सौ वर्षों से भी अधिक जीने की इच्छा है। हमारा सौ वर्षों का जीवन आनंद से बीते। हमारा जीवन सदैव सुखमय हो। हमारा जीवन अजिक्य होवे। कोई भी हमें जीत न सके। हमारे मुख में वाक्-शक्ति, श्वासोच्छ्वास में प्राणशक्ति, आँखों में नेत्रशक्ति व कानों में श्रवण-शक्ति अखंड कार्यशील रहे। बाल कभी भी न पकें, दाँत कभी भी न हिलें, बाहुओं में अपार बल नित्य संचरित होता रहे। हृदय में उत्साहवर्धक ओज हो, घुटनों में वेग व पाँवों में स्थिरता हो। हमारे अंग प्रत्यंग सुडौल व सुदृढ़ हो व किसी भी संबंध में असामर्थ्यरूपी अरिष्ट की आपत्ति हम पर न आये।"

जिस प्रकार उन्हें जीवन का अधिकाधिक लाभ चाहिए उसी प्रकार उन्हें किसी भी प्रकार का दैन्य भी नहीं चाहिए। इसका अर्थ है कि उन्हें सामर्थ्य-सम्पन्न, ऐश्वर्यसम्पन्न एवं सन्तान-सम्पत्ति से भरापूरा जीवन चाहिए। देवताओं की स्तुतियों से युक्त सबसे अधिक प्राचीन समझे जाने वाले ऋग्वेद में ही इस आशय के उद्गार प्राप्त होते हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं : "**अस्मभ्यं शर्म यच्छतम्**" (ऋ० १, १७, ८) "हमें सब प्रकार का सुख दो।" "**विश्वानि द्रविणानि धेहि।**" (ऋ० ५, ४, ७) "हमें सब प्रकार की सम्पत्ति दो।" "**आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम्। मार्डीकं धेहि जीवसे।**" (ऋ० १, ७९, ९) "हे अग्नि ! हमारी जीवन यात्रा उत्तम चले इसके लिए सुन्दर ज्ञान से युक्त, समस्त आयुपर्यंत पूजने योग्य तथा हमारे सुख के लिए कारणीभूत होने वाली

उत्तम सम्पत्ति दो।" "**इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि।**" (ऋ० २, २१, ६) "हे इन्द्र! हमें श्रेष्ठ धन दो।" "**उरुक्षयाय नः कृधि।**" (ऋ० ८, ६८, ६) "हमारे घरद्वार भरे पूरे हों।" "**अस्मे धेहि श्रवो बृहत्।**" (ऋ० ८, ६५, ९) "हमें विशाल कीर्ति दो।" **प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमस्याम्।**" (ऋ० ५, ४, १०) "प्रजा के सहारे हम अमर हों।" "**तन्नो देवः यच्छत सुप्रवाचनम् छर्दिरादित्याः सुभरं नृपाय्यम्।**" (ऋ० १०, ३५, १२) "ओ आदित्य देवो! अत्यंत प्रशस्त व सुसमृद्ध मनुष्यों का रक्षण करने वाले घर आप हमें दें।" "**नित्यस्य रायः पतयः स्याम।**" (ऋ० ७, ४, ७) "हम औरस पुत्र का लाभ करें।" "**नः पशुमाँ अस्तु गातुः।**" (ऋ० ३, ५४ ,१८) "हमारे घर पुत्रपौत्रादि संतति व अश्व गौ आदि पशुओं से भरे रहें।" "**रयिं देहि सहस्रिणं अग्ने वीरवती मिषम्।**" (ऋ० ८, ४३, १५) "हजारों की धन सम्पत्ति व उसी प्रकार बलवर्धक अन्न हमें दो।" "**विश्वायुर्धेह्यक्षितं**" (ऋ० १, ९, ७) "अखंड दीर्घ आयुष्य हमें दो।" "**शं नः करत्यर्वते सुगं मेषाय, मेष्ये, नृभ्यो नारिभ्यो गवे।**" (ऋ० १, ४३, ६) "हमारे घोड़ों, भेड़ों, पुरुष, स्त्री, व गायों को, अर्थात् सबको सुखी रखो।"

जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में उन्होंने सम्पन्न जीवन की यह आशा प्रगट की है उसी प्रकार आक्रमक शत्रुओं से संरक्षण की भी माँग की है और हमें क्या नहीं चाहिए यह स्पष्ट कहा है। वे कहते हैं : "**हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।**" (ऋ०१ , ५०, ११) "हे सूर्यदेव, मेरा कामला व क्षय रोग नष्ट करो।" "**पाहि रीषत उत् वा जिघांसतः।**" (ऋ० १, ३६, १५) "व्याघ्रादि दुष्ट प्राणियों से व घात करने के लिए बैठे शत्रुओं से हमारा रक्षण करो।" "**अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितं।**" (ऋ० १, ३६, १५) "लुटेरे, चोर व कपटी लोगों को हमसे दूर, अतिदूर रखो।" "**पाहि धूर्तेरराव्णः।**" (ऋ० १, ३६, १५) "धूर्त मक्खीचूसों से हमारा रक्षण करो।" "**व्यमीवा श्चातयस्वा विषूची।**" (ऋ० २, ३३, २) "समस्त शरीर को व्यापे हुए रोगों का उच्छेदन करो।" "**मा ते गोदत्र निरराम राधसः।**" (ऋ० ८, २१, १६) "हे उदार इंद्र! हम तेरे भक्त संपत्ति से च्युत होकर धनरहित न हों।" "**मा नः क्षुधे परा दाः।**" (ऋ० ७, १, १९) "हमें भूख की चपेट में न लाओ।" "**मा नो अग्ने अवसृजो अविष्यवे।**" (ऋ० १, १८९, ५) "हमें भूखे कंगाल लोगों के अधीन मत करो।" "**मा दत्वते दशते परा दाः।**" (ऋ० १, १८९, ५) "दातों से दंश करने वाले सर्पादिकों की एवं सींग मारने वाले पशुओं की चपेट में हमें न लाओ।" "**मा शूने निषदाम**" (ऋ० ७-१-११) "निपूतों के घर रहने का अनिष्ट प्रसंग हम पर न आये।" दरिद्रता से आर्यों को इतनी घृणा है कि वे कहते है : "**अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे, शिरिं विष्टस्य सत्त्वभिष्टेभिष्ट्वा चातयामसि।**" (ऋ० १०, १५५, १) हे धनहीन, कुरूप व सदा आक्रोश करने वाली दरिद्रते! निर्जन पर्वत पर जा। नहीं तो अपने पराक्रम

से हम तेरा नाश करेंगे ।'' **"गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूकाः ददतः शतानि सहस्रऽसवि प्रतिरन्त आयुः** (ऋ० ७, १०३, १०) "बैल हमें सम्पत्ति दें, उसी प्रकार भेड़ें हमें सौख्य दें। ये मेंढक हमें सैकड़ों गायें देवें। हजार वर्षों तक अपना आयुष्य ये मेंढक हमें देवें।''

चरैवेति-चरैवेति

ऋग्वेदीय ऋषियों के व ब्राह्मण ग्रंथों तक के समस्त वैदिक साहित्य के द्रष्टाओं के उद्गारों की ओर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनके अंतःकरण में ऐश्वर्य व जीवन के संबंध में कोई हीनता का भाव नहीं है। स्वाधीनता से सुखोपभोग करने की उनकी इच्छा है व उसे प्रगट करने में उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं होता। उल्टे, ऐसा करना वे उत्तम मन का द्योतक समझते हैं। बौद्ध व जैन विकृति के पश्चात् भारत में दृढ़मूल हुए विकृत निराशावाद का उनके मनों पर यत्किंचित् भी परिणाम नहीं है। परन्तु यह ऐश्वर्य उन्हें दूसरों से प्राप्त भीख के रूप में नहीं चाहिए, अपितु स्वतः के पुरुषार्थ व उद्योग के भरोसे उसे हस्तगत करने की उनकी वांछा है। ऋग्वेद कहता है—**"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।''** जो पुरुषार्थ करता है व पसीना बहाकर श्रम करता है उसी का ईश्वर मित्र व पृष्ठपोषक है। आलसी मनुष्य पापी है। श्रम के बिना संपति नहीं मिल सकती व अनायास ही मिला हुआ धन तिरस्करणीय है। स्वतः कष्ट कर ऐश्वर्यशाली होने में ही वास्तविक पुरुषार्थ है ऐसा ऋग्वेद का कथन है। ऐतरेय ब्राह्मण में इंद्र ने हरिश्चंद्र के लड़के रोहित को अविश्रान्त रूप से उद्योग व पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हुए कहा है : **"नाऽना श्रान्ताय श्रीरस्ति पापो नृशद्वरोजन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति। कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् चरैवेति॥ चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुंबरन् सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् चरैवेति॥''** (ऐतरेय ब्राह्मण ७, १५) "हे रोहित, श्रम के बिना श्री की प्राप्ति नहीं हो सकती। आलसी मनुष्य पापी है। जो पुरुषार्थी है उसी का ईश्वर मित्र होता है। इसलिए कष्ट कर। पुरुषार्थ कर। आलसी मनुष्य व केवल सोते रहने वाला यह मूर्तिमंत कलि सबसे अधः पतित है। थोड़ा पुरुषार्थ का विचार आया कि वह उससे ऊँची द्वापर की अवस्था होती है। पुरुषार्थ के लिए सिद्ध होना उससे भी ऊँची त्रेता की अवस्था है व प्रत्यक्ष कार्य करने लगना ही सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। अविरत परिश्रम व भ्रमण करने के कारण ही मधुमक्खी मधु प्राप्त करती है। सूर्य क्षण मात्र भी विश्रान्ति की अपेक्षा न कर निरलस भ्रमण करता रहता है और इसीलिए उसका तेज, उसकी शोभा व स्थावर जंगम सृष्टि को प्रकाश एवं जीवन का भंडार देने का उसका सामर्थ्य अखंड रूप से टिका हुआ है। इसलिए

पुरुषार्थ का अंगीकार कर उद्योग रत हो।"

इस प्रकार के सरस जीवनवादी एवं पुरुषार्थी वैदिक लोग विलक्षण धैर्यशील एवं किसी भी संकट का उन्मूलन करने वाले तेजस्वी पुरुष थे यह बताने की आवश्यकता नहीं। परमेश्वर से वे केवल तेज एवं कृपा की माँग करते हैं एवं कैसी भी आपत्ति एवं घनघोर युद्ध से न डगमगाते हुए और न उसे टालते हुए उसमें पड़कर यशस्वी होने की वे इच्छा रखते हैं। वे कहते हैं : "**सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतः।**" (ऋ० ८, ४०, ७) "हमसे जो द्वेषभाव रखेंगे उनकी हम अच्छी मरम्मत करेंगे व हमसे जो मित्रता का व्यवहार करेंगे उन्हें हम स्नेह से गले लगायेंगे।" प्रत्यक्ष युद्ध में कूद पड़ने पर उनके धनुष्य की टंकार उनके ही कानों को कैसी लगती थी व उस धनुष्य के दर्शन से उन्हें कितनी तेजस्वी पार्श्व भूमि का स्मरण होता था यह ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचाओं में देखा जा सकता है। वे कहते हैं : "**धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं करोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥ वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती।**" (ऋ० ६, ७५ ऋचा २ व ३) "हमारे धनुष्य का तेज ऐसा है कि उसकी सहायता से हम गायें जीतेंगे और लड़ाई पर लड़ाई जीतेंगे। इस धनुष्य के भरोसे हम उद्धत और अत्यंत मदोन्मत्त शत्रु-सेना को जीतेंगे। हमारे धनुष्य शत्रु की इच्छा भंग करेंगे व हम दिशा एवं विदिशा पर विजयसंपादन करेंगे। यह धनुष्य पर चढी हुई व रणकर्म के पार लगाने वाली प्रत्यंचा प्रिय सखा को आलिंगन देने वाली स्त्री के समान मानो कुछ कहने के लिए कान के पास आती है और मंजुल नाद करती है।" वे स्पष्ट कहते हैं : "**उत वा यो नो मर्चयात् अनागसः अरातीवा मर्तः सानुको बृकः। बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि॥**" (ऋ० २-२३-७) अर्थात् "जो जो मनुष्य हमसे वैर धारण करता है और गर्वोन्नत हो अपहरण करता है, तथा तेरे निरपराध भक्तों को फँसाने की घात लगाता है उन्हें, हे वाक्पते, तू हमारे मार्ग से सदा के लिए उखाड़ फेंक तथा हमारे हाथों से देवसेवा हो सके इसलिए हमारा मार्ग सुगम कर।" खड्ग व धनुष्य केवल अन्याय के प्रतिकारार्थ ही प्रयुक्त किये जाने चाहिए परन्तु एक बार दुर्जनों द्वारा शस्त्र धारण के लिए विवश कर दिये जाने पर फिर बिना किसी हिचकिचाहट के तेजस्विता से शस्त्र का स्वाभाविक परिणाम होने देना चाहिए और अंत तक भी न झुकना चाहिए, यह उनका तेजस्वी बाना है। वे कहते हैं :—

"इन्द्राग्नी युवं सु नः सहन्ता दासथो रयिं।
येन दृळ्हा समत्सु आ। वीळु चित् साहिषीमहि।
अग्निर्वनेव वात इत् नभन्तां अन्यके समे॥१॥

अपि वृश्च पुराणवत् व्रततेरिव गुष्पितं । ओजो दासस्य दम्भय ।
वयं तत् अस्य सम्भृतं वसु । इन्द्रेण विभजेमहि नभन्तां अन्यके समे ।।६।।"

(ऋ० मंडल ८ सू० ४०)

"हे इन्द्राग्नि, दुर्जनों को असह्य होने वाले आप भक्तों को वह अटल ऐश्वर्य दें जिसके द्वारा कितना ही बलवान शत्रु क्यों न हो, उसका हम युद्ध में उसी प्रकार नाश कर सकें जिस प्रकार प्रबल झंझावात के योग से दावाग्नि अरण्य को भस्म कर देती है। किसी पुरानी सूखी लता के जाल को जिस प्रकार छाँट दिया जाता है उसी प्रकार दुष्ट नीचों के जाल को तू पहले के समान छाँट दे। तू उनका तेजोभंग कर जिससे उनके द्वारा संचित धन इंद्र की सहायता से हम सब लोगों में बाँट दें।" एक बार संकट में पग देने के पश्चात् फिर उसे अकंपित रूप से धैर्य एवं निर्भयता के साथ आगे ही बढ़ाना चाहिए यह उनका उग्र निश्चय है। अथर्ववेद में धीरों का धैर्यवर्धन करने वाले निम्नलिखित उद्‌गार इस दृष्टि से मननीय हैं—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ।।
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ।।
यथा सूर्यश्च चंद्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ।।

"द्युलोक और पृथ्वी, दिवस और रात्रि, सूर्य और चंद्रमा, ब्रह्म और नक्षत्र, भूत और भविष्यत् ये द्वन्द्व जिस प्रकार किसी से न डरते हुए अखंड रूप से सदा आगे ही बढ़ते जा रहे हैं उसी प्रकार हे मेरे प्राण, तू भी कभी न डरते हुए सदा आगे ही बढ़ता रह।" मनुष्य धैर्य एवं निर्भयता से अखंड रूप से आगे ही कदम बढ़ाता रहे इसके लिए दिया गया अथर्ववेद का यह संदेश कितना मनोरम है ! अथर्ववेद के सारे ही युद्धगीत एवं संग्रामगीत इस दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट एवं स्फूर्तिदायक हैं। अथर्ववेद के पाँचवें कांड के बीसवें सूक्त में रणदुंदुभी का यह बहारदार वर्णन देखिए—

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिः ।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ।। १ ।।

सिंह इवास्तानीद द्रुवयो विबद्धोभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव ।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभि मातिषाः ।। २ ।।

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित् ।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ।। ३ ।।

दुन्दुभेर्वाचं वदन्तीमाशृण्वन्तीनाथिता घोषबुद्धा ।
नारीपुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ।। ४ ।।

"लकड़ी की वनी हुई, वाद्यों से युक्त, वीरों के समान आचरण करनेवाली दुंदुभी घोर निनाद कर रही है। अपनी आवाज चढ़ाकर शत्रुओं की हिम्मत पस्त करने वाली तू विजयी सिंह के समान गर्जना कर ॥१॥ विबद्ध द्रुवय (दुंदुभि) ने सिंह के समान आक्रोश किया। उसने कामुक बैल के समान आवाज दी। हे दुंदुभे, तू बैल (वृष) है, तेरे शत्रु कायर हैं; शत्रुओं को जीतने की तेरी शक्ति इन्द्र के समान है ॥२॥ जानवरों के झुंड में बैल के समान शक्ति के कारण प्रसिद्ध हुई तू लूट जमा करती हुई व गायें प्राप्त करती हुई आक्रोश मचाती रह। दुःख से शत्रुओं के हृदय विदीर्ण कर; धूल-धूसरित होकर वे अपने घरद्वार त्याग कर भाग जाएं ॥३॥ दूर उठनेवाले दुंदुभि-निनाद से जागृत एवं व्यथित हुई शत्रुपत्नी भयभीत हो अपने लड़के का हाथ पकड़कर शस्त्रों की झनझनाहट से व्याप्त समरभूमि से भाग जाए ॥४॥

प्रवृत्ति-निवृत्ति

वैदिक साहित्य के इस जीवनवाद की ओर देखकर कई लोगों ने अपनी यह धारणा बना ली है कि वैदिक काल में लोगों का विकास उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान तक नहीं हुआ था और इस कारण एक जड़वादी मनुष्य के समान वैदिक लोग केवल इहलौकिक सुखोपभोग को ही सारसर्वस्व समझते थे। वेदों के संबंध में अभिमान रखनेवाले तथा वेदों को पिछड़े हुए लोगों के उद्गार मानने वाले दोनों ही प्रकार के लोग मानों इस बारे में एकमत हो गए हैं। भूल से ऐहिक सुखोपभोग प्रधान प्रवृत्ति को ही, हिंदुधर्म में प्रवृत्तिपरता मानने वाले लोग यह दिखाने के लिए कि वेदों में सन्यासप्रवणता एवं निवृत्ति परता नहीं है, इन्ही बातों का आश्रय लेते हैं व केवल यह ऐहिक जीवनवाद ही राष्ट्र में तेज उत्पन्न कर सकता है ऐसा मानकर वेदों का पुरस्कार करते हैं। आध्यात्मिकता को राष्ट्र की श्रेष्ठतम विकास की स्थिति मानने वाले लोग इसी आधार पर यह मानते हैं कि उपनिषद् काल में वैदिकों का अध्यात्मज्ञान पूर्णावस्था को अवश्य प्राप्त हुआ था किंतु वेदकाल में कर्मकांड व लौकिक जीवन विषयक आकांक्षाओं में ही वे रममाण थे। अपनी इस समझ के आधार पर वे लोग वेद से लेकर उपनिषद् के काल तक एक विकास एवं बढ़ते ज्ञान का क्रम प्रतिपादित करते हैं। हम देख सकते हैं कि आजकल के विद्यापीठों के शिक्षणक्रम में नियुक्त ऐतिहासिक पुस्तकों में इसी ढंग का क्रम वर्णित है। सामान्य लोग ही क्या, डॉ० केतकर सरीखे ज्ञानकोशकार भी इस जाल में उलझ गये हैं। और वह भी इतने कि वेदों का अध्ययन करते समय जिन सिद्धान्तों का ध्यान रखने का उन्होंने लोगों से आग्रह किया है, उन्हीं सिद्धान्तों के विरुद्ध वे स्वतः अनुमान लगाने के लिए सिद्ध होते हैं। इसका

अर्थ यही है कि मन पर हुए संस्कार इतने प्रबल हैं कि विचारोपरान्त मान्य हुई बातों को भी वे प्रत्यक्ष में आने नहीं देते। वेदों का अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए यह यदि डॉ० केतकर से पूछा जाय तो वे इस संबंध में एक सत्य सिद्धान्त का पुरस्कार करेंगे। परन्तु उनका स्वतः का मन पूर्वप्राप्त संस्कारों का इतना शिकार हो गया है कि अनुमान लगाते समय वे स्वतः के बताये हुए सिद्धान्त के विरुद्ध चले जाएंगे। ऋग्वेद सूक्तों में प्रतिबिंबित होने वाला आर्यों का जीवन कैसा था इस संबंध में विवेचन करते हुए डॉ० केतकर कहते हैं : "ऐसा दिखता है कि भारतीय आर्य लोग चपल, आनंदी व लड़ाकू थे। उनका रहन सहन सादा पर कुछ जंगली था। वैदिक सूक्त की रचना करने वाले लोग शत्रु से लड़ने के कार्य में देवताओं की मदद माँगते थे। युद्ध में जयप्राप्ति के लिए वे उनकी प्रार्थना करते थे। वैभव व यथास्थित लूट उन्हें प्राप्त हो, इसके लिए देवताओं की विनती करते थे। पैसा, सुवर्ण की अपार राशियाँ, गौओं के झुंड, अनाज के लिए वर्षा इत्यादि बातें मिलें व संतति-संपत्ति एवं दीर्घायुष्य प्राप्त हो इसलिए वे देवताओं की पूजा करते थे। इस काल तक वैदिक सूक्तों में उतरोत्तर आगे के साहित्य में प्राप्त होने-वाला भारतीय लोगों का दुर्बल, निर्जीव निवृत्तिपरक स्वभाव बिल्कुल भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऋग्वेद में नीतितत्त्वों के अतिरिक्त और सब कुछ है।" यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो डॉ० केतकर स्वतः ही यज्ञ प्रक्रिया और वेदाभ्यास की संगति लगाकर वहां यह कहते हैं कि ऋग्वेदादि चारों वेद केवल ऋत्विजों की सुविधा के लिए तैयार किये गये हैं, वास्तव में वे एक हैं और स्पष्ट सूचना देते हैं कि भावी अभ्यासकों को उन्हें एक समझकर ही उनका अभ्यास करना चाहिए वहाँ वे स्वतः ऋग्वेद को अलग साहित्य मानकर, केवल उसके आधार पर ही आर्यों की जीवनपद्धति के संबंध में अनुमान लगाते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि ये अनुमान लगाते समय वे पाश्चात्यों द्वारा माने गये ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक के विकास क्रम को वैसा ही मानकर ऋग्वेदकालीन लोगों को इहलौकिक आकांक्षा के परे न सोच सकने वाले लोग सिद्ध करते हैं। ऋग्वेदीय लोगों की आध्यात्मिक प्रगति कितनी थी तथा उनमें नीतिमत्ता तथा नीतितत्वों का कितना प्रसार था यह मैं ऋग्वेद के ही प्रमाणों के आधार पर दिखाऊँगा। डॉ० केतकर से भी अधिक आश्चर्य की बात विख्यात भारतीय तत्त्वज्ञ आर० डी० रानडे ने कही है। अपने ग्रंथ* में वे कहते हैं—"पहली बात यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऋग्वेद में धर्म का विचार केवल बाह्य दृष्टि से किया गया है। क्योंकि सृष्टि की भिन्न भिन्न शक्तियों को देवता मानकर उनकी स्तुति की गई है। इस से यह दिखाई देता है कि ऋग्वेद के काल तक धर्मभावना इतनी

*A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.

परिणत नहीं हुई थी।" प्रा० रानडे के प्रति मन में आदर रहते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि उन्होंने ऋग्वेद के प्रति अन्याय किया है। **'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति'** सरीखे ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले विपुल उल्लेख देवतावाद के स्थान पर यही सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेदीय ऋषियों को उपनिषदों के परम तत्व का सम्पूर्ण आकलन हो गया था। सृष्टि के मूल में निहित तथा सृष्टि के आधारभूत तत्वों का ऋग्वेदीय ऋषियों को उपनिषदों में वर्णित अनुभूति के मार्ग से ही पूर्णरूप से आकलन हो गया था यह सिद्ध करने के लिए **'अस्यवामस्य'** व **'नासदीय'** सूक्त ही पर्याप्त हैं। **'गच्छ धर्मणा'** कहने वाले तथा **'सन्नद्धो मनसा चरामि'** यह उद्घोषित करने वाले ऋग्वेद में धर्म का केवल बाह्य दृष्टि से ही विचार किया गया है यह कहना तथा धर्मभावना परिणत नहीं हुई थी यह अभिमत व्यक्त कर चुप बैठ जाना निरा हास्यास्पद है। प्रा० रानडे यदि उपनिषदों के रहस्यों के साथ साथ ऋग्वेद के रहस्यों को भी खोजने का प्रयत्न करें तो हमें विश्वास है कि उन्हें ये दोनों रहस्य एक ही तथा समान मूल्य के जँचेंगे। वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होने वाली जीवनवादी आकांक्षा के स्पष्ट आविष्कार के कारण बड़े-बड़े स्वतंत्रप्रज्ञ समझे जाने वाले लोगों की भी कैसी संभ्रमपूर्ण अवस्था होती है यह दिग्दर्शित करने के लिए ही मैंने डॉ० केतकर व प्राध्यापक रानडे के नामों का उल्लेख किया। प्रत्यक्ष ऋग्वेद पढ़ने का परिश्रम न करने वाले उन सामान्य लोगों की क्या अवस्था होती होगी, जो सर जान वुड्राफ के शब्दों में 'केवल अपने पाश्चात्य गुरुओं की ताल पर साहित्यनर्तन करते हैं' यह बताने की आवश्यकता नहीं। इस जीवनवाद के आधार पर भारतीय साहित्य के विकृतीकरण के लिए जानबूझकर बद्धपरिकर हुए कॉ० डांगे सरीखे लोग कितने भयंकर विधान रचते होंगे व कितने विलक्षण इतिहास लिखते होंगे इस की केवल कल्पना ही की जा सकती है।

साम्यवादी विपर्यास

कॉमरेड डांगे अपने ग्रंथ* में ऋग्वेदीय जीवन का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

**"सम्पूर्ण साहित्य केवल एक ही माँग और उस माँग की परिपूर्ति की उपाययोजना से ग्रस्त है और वह माँग है संपत्ति की। मूलतः संपत्ति का अर्थ है अन्न और अधिक मनुष्यशक्ति जिसे धनम् और प्रजा कहा गया है।

*India from Primitive Communism to Slavery.

**All Vedic literature is dominated with but one demand and the measures for the fulfilment of that demand namely wealth meaning primarily food and more men (man-power), Dhanam and Praja. The first Dhanam describes his instruments of pro-

प्रथम धन शब्द का अर्थ है उनके उत्पादन के साधन एवं उनकी अर्थोत्पादन-शीलता, और जिनके लिए यह उत्पादन किया जाता है वह है दूसरा शब्द प्रजा। इस धनसम्पत्ति की माँग से संबंधित सामग्री वैदिक संहिताओं में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

"अन्न के लिए संघर्ष अत्यंत तीव्र था पत्थर के भौंडे औजारों के युग में यह स्वाभाविक भी था। शिकारी जीवन अत्यंत कष्ट साध्य एवं अनिश्चित था। शिकार की अनिश्चितता, शिकार के पीछे भागना, ऊपर आच्छादन नहीं अग्नि का पता नहीं, निसर्ग एवं जंगली जानवरों से रक्षा का साधन नहीं, आदि सारी बातें आर्यों के अंतःकरण में सदैव कंप उत्पन्न किया करती थीं। अन्नप्राप्ति के संघर्ष में अनेक कुल नष्ट हो गये और लोगों को भय था कि कहीं संपूर्ण समाज ही इस संघर्ष में नष्ट न हो जाय। वैदिक ऋषियों ने अपना यह भय अपने विशेष ढंग से व्यक्त किया है।"

इस कल्पित कथा की रचना के पश्चात् श्री डांगे को वेदों के प्रेमपूर्ण अग्नि सूक्तों की अचानक याद आ गई। उसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि जंगली अवस्था में रहने वाले लोगों को जब अग्नि प्राप्त हुआ तब उसके कारण उनकी जीवन पद्धति में अत्यंत आमूलाग्र सुखास्पद परिवर्तन हुआ। उसी का चित्रण अग्नि सूक्त में किया गया है। वे कहते हैं :—

*"अंत में आर्यों को एक नवीन साधन हाथ लग गया जिसने उनके जीवन में तत्काल ही एक महान् क्रान्ति उत्पन्न कर दी। वह साधन याने अग्नि की खोज। यह क्रान्ति इतनी बड़ी थी कि इसके बाद का संपूर्ण आर्य जीवन ही

---

duction, his economic productive activity, and as an adjunct of that second one, Praja. All Vedic Samhitas contain abundant material on these two questions.

The struggle for food was a very hard one. With those crude stone tools, it was bound to be so. The precarious existence of the hunter, with uncertainty of the game, with running after prey, with no shelter, no fire, no protection against nature and wild beasts, caused a shudder in the memory of Aryans. Whole groups of societies perished in the struggle for food and sometimes men wondered if they would all perish in the battle. The fear is expressed by the Vedic Philosopher in his own way. (p. 36)

*"The Aryans had at last that instrument which immediately caused a great revolution in their life. The revolution was so great that all later Aryan life is ascribed to fire, revolves round it and is centred round it. Creation, existence, growth, wealth,

अग्नि की देन समझा जाने लगा और उसके चारों ओर केन्द्रित हो गया। उत्पत्ति, अस्तित्व, विकास, ऐश्वर्य, सुख आदि सारी बातों का उत्पत्तिस्थान अग्नि बन गया। उसके कारण जो दो अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए वे थे पशुसम्पत्ति एवं प्रजा की उत्पत्ति (प्रजा-पशवः)।

"अग्नि के द्वारा मछली और शिकार भूना एवं पकाया जाकर सहज पचनयोग्य बन गया। इसलिए अग्नि को अमद और क्रव्याद ये दो संज्ञाएँ प्राप्त हुईं। अमद का अर्थ है कच्चे धान्य खाने वाला और क्रव्याद का अर्थ है मृत मांस खाने वाला (यहाँ खाने का अर्थ है जलाना)। जंगली क्रूर श्वापदों, राक्षसों एवं पिशाचों को मार भगाने में वह समर्थ सिद्ध हुआ। जलते अंगारों एवं मशालों के रूप में वह जंगली जानवरों एवं उन शत्रुओं के विरुद्ध फेंका जाता था जिनके पास तब तक इस प्रकार का कोई अस्त्र नहीं था। उसने मनुष्यों को शीत एवं वर्षा की कठोरताओं से बचाया और रात्रि के अंधकार में चलना फिरना और देखना संभव बनाया। सायबेरिया प्रदेश में तो ये रातें बड़ी लंबी, ठंडी एवं कष्टदायक हुआ करती थीं इस कारण वहाँ उसकी आवश्यकता और भी तीव्रता से भासित होती थी।

"अग्नि के साथ ही साथ पशुपालन की कला का भी विकास हुआ जिसके कारण स्थाई अन्न प्राप्ति का एक बड़ा प्रश्न हल हो गया।"

इस प्रकार कॉमरेड डांगे ने ऋग्वेद में वर्णित जीवनवाद के आधार पर ऋग्वेदकालीन जीवन को पहले पाषाण युग का जंगली जीवन कल्पित कर बाद में आर्यों की अग्नि विषयक धारणा की उपपत्ति दी है एवं यज्ञ तथा सत्रों के समय किये जाने वाले सामुदायिक अग्निपूजन को जंगली लोगों की आग

---

happiness, all proceed from fire (Agni). The most vital changes resulting from it are the production of wealth in cattle and population (Praja-pashvah).

"Fire made the hunt and fish easily digestible, when roasted or cooked on it. Hence the great God Agni is called Amad, eater of raw food, and Kravyad, eater of dead flesh. It scored off wild animals, hostile goblins and ghosts. It could be thrown as a weapon in the form of burning cinders of wood or torches against wild animals and enemies who had no such invention as yet. It protected man from the inclemancies of weather and made movement and sight possible in the darkness of night which could be very long and cold in oppressive Siberian regions.

"Allied with fire, came the art of domestication of animals, which solved the most pressing problem of a stable supply of food." (p. 88)

के चारों ओर फेरे लगाने की एक पद्धति बताकर, वेदों में कहीं भी दृष्टि-गोचर न होने वाले सहभोजन, एकत्र नृत्य व मनचाहे पुरुष का मनचाही स्त्री के साथ रात भर मौज करना इत्यादि बातों को वैदिक लोगों के जीवन के साथ जोड़ दिया है। उसमें मद्यपान भर की कमी थी। सो श्री डांगे को वेदों के सोमपान में इस दृष्टि से मनचाही वस्तु प्राप्त हो गई और ऋग्वेदीय जीवन का चित्रण करते हुए उन्होंने उसे यह रंग दिया है :

*"यज्ञ नाम के सामुदायिक महोत्सव के प्रसंग पर खूब खाकर (मांस) एवं खूब पीकर (मद्य) वे पुरातनकाल में अग्नि के चारों ओर सो जाते थे अथवा अपनी चुनी हुई संगिनी सहित झोंपड़ी में विहार के लिए चले जाते थे। आगे चलकर इसी में से कुटुंबसंस्था का जन्म हुआ। इस पद्धति से मनुष्य और अग्नि दोनों ही तृप्त होते थे। इस प्रकार वह ब्रह्म अथवा वह संघ श्रम करता था, रहता था और मौज करता था।"

अच्छा हुआ कॉमरेड डांगे ने प्रत्यक्ष 'वोदका' शब्द का प्रयोग नहीं किया अन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि खास कम्युनिस्टों का संघजीवन ही वे वेदों के नाम पर वर्णित कर रहे हैं। उनको इस बात का स्पष्ट ज्ञान है कि जो कुछ वे लिख रहे हैं वह पूर्णतया असत्य है तथा ऋग्वेद में ही उसके विरोधी अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यही नहीं, वे यह भी जानते हैं कि वैदिक साहित्य के यज्ञ, ब्रह्म, गौत्र, सदसद्वाद आदि अनेक शब्द उनके प्रतिपादन में बाधा उत्पन्न करने वाले तथा वैदिक लोगों की श्रेष्ठता की स्पष्ट जानकारी देने वाले हैं। परन्तु उसके लिए उन्होंने एक निराली ही रीति निकाली है जो उनकी 'मेरी मुर्गी की एक टांग' वाली साम्यवादी मनोवृत्ति के बिल्कुल अनुरूप है। वह रीति है शब्दों का अर्थ तोड़मरोड़ देने की। सर्वप्रथम यह निश्चित करना कि ऋग्वेदीय जंगली थे और फिर उनकी विकसनावस्था के द्योतक जो शब्द प्राप्त हों उन पर यह कह कर कि उन लोगों की अवस्था की दृष्टि से उन शब्दों के रूढ़ अर्थ लागू नहीं होते, अपने कपोल-कल्पित अर्थ लादना। ऋग्वेद पर लिखने वाले इतर लोगों में और कॉ० डांगे में यही महत्व का अन्तर है। इतरों के दृष्टिदोष व संस्कारदोष कुछ भी क्यों न हों परन्तु उन्हें वही कहना है जो है, जबकि कॉमरेड डाँगे को कम्युनिस्ट प्रक्रिया में भारतीय इतिहास को ठूंस ठाँस कर बैठाने के

---

*"Well fed and well drunk they slept round the fire in promiscuity in the early days or retired with their selected pairs to their huts when, later on, the pairing family developed in the commune house hold. Man was pleased and so was Agni. Thus the Brahman, the commune, lived and laboured, enjoyed and multiplied."

लिए, जो नहीं है उसे है कहकर दिखाना है। इस दृष्टि से उनका ब्रह्म शब्द के संबंध में पांडित्य देखने योग्य है। वे कहते हैं :—

*"वैदिक आर्यों का 'ब्रह्म' उपनिषद् के तत्त्वज्ञों के ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। वेदों का जंगली मनुष्य अपनी प्राथमिक अवस्था में समाज के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक द्वन्द्व, वर्ग संघर्ष एवं शोषणादि से अभी परिचित ही नहीं हुआ था और इस कारण बाद के उपनिषद् काल के कल्पनावादी तत्त्वज्ञान को उत्पन्न कर सकने का सामर्थ्य उसमें नहीं था। उपनिषदों में ब्रह्म का अर्थ है मूलभूत ज्ञानशक्ति, चेतना अथवा चित् शक्ति जो समस्त विश्व के रूप में अभिव्यक्त हुई है। वह ब्रह्म सब गुणों से रहित अर्थात् निर्गुण है जबकि वेदों का ब्रह्म प्रत्यक्ष वस्तुसत्व होने के कारण सगुण है। उपनिषद् का ब्रह्म केवल योग अथवा वेदान्त में प्रदर्शित ध्यान धारणादि मार्गों से जाना जा सकता है जब कि वेदों का ब्रह्म प्रत्यक्ष भौतिक सत्य होने के कारण मनुष्य के बाह्य भौतिक प्रयत्नों द्वारा साध्य हो सकता है तथा मनुष्य उसमें आनंद ले सकता है। वैदिक ब्रह्म जीवन के आनंद भोगता है, खाता है, पीता है, नाचता है एवं सुखपूर्वक विकास करता है। उपनिषदों का ब्रह्म इन्द्रियातीत ही नहीं, बुद्धि के भी परे है और सब प्रकार की इच्छाओं और भावनाओं से शून्य, न खाता है, न पीता है और न ही किसी प्रकार के आनंद भोगता है। इन बातों के त्याग से और भुखमरी से ही वह प्राप्त हो सकता है। परन्तु स्वस्थ विकासमय जीवन से युक्त वैदिक आर्यों को इस प्रकार के अस्तित्वहीन, इंद्रियातीत भावनाशून्य, दरिद्र एवं अदृश्य ब्रह्म की कोई आवश्यकता नहीं थी। वैदिक

---

*"They very well see that this Brahman of the Vedic Aryan is quite different from the Brahman of the Upanishadic philosophers. The Vedic barbarian in his primitive commune, not yet confronted by social contradictions, class-struggles and exploitation, was far away from developing the idealistic philosophy and cant of the later Upanishadic period. There the Brahman is the original intelligence, consciousness or spirit whose manifestation is the world. That Brahman is without qualities (Nirguna) while Vedic one is objectively real, with qualities (Saguna). That one is realisable only by those subjective processes of contemplation which we find in the Yoga or Vedanta Philosophy, while the Vedic one is an objective reality enjoyed through the quite material efforts of man. The Vedic Brahman enjoys life, eats, drinks, dances, is happy and growing. The Upanishadic Brahman is beyond senses, even reason, without feeling, emotions, to whom eating, drinking and enjoying is

आर्यों की दृष्टि में उनका ब्रह्म उनके सामुदायिक संघजीवन में ही निवास करता था तथा विश्व में संचार करता था व वे स्वत: उसके प्रत्यक्ष भाग थे। उनके विचार में उनका सामुदायिक संघ व उसके घटक ही ब्रह्म थे और जंगली लोगों के समान उन्होंने चंद्र, स्वर्ग, पृथ्वी आदि सबका संबंध इस संघ से प्रत्यक्ष जोड़ दिया था। अग्निसहित यह सामुदायिक संघ सब बातों का केन्द्र था।

"वेदों के अध्ययन कर्ताओं ने ये सारी बातें प्रत्यक्ष वेदों में देखी हैं परन्तु कल्पनावादी तत्वज्ञान से प्रभावित होने के कारण उन्होंने इस ब्रह्म को गूढ़ता प्रदान करने का प्रयास किया है। हॉग, गिगलिग, हिलब्रँट, केतकर, तिलक आदि सारे ही लोग ब्रह्म के चारों ओर चक्कर लगाते रहे हैं परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं।"

ऋग्वेद में दिखलाई पड़ने वाले जीवनवाद में इहलौकिक आकांक्षा की परिपूर्ति के लिए संपत्ति एवं प्रजा की जो मांग देवताओं से की गई है उसका यह कितना बड़ा विपर्यास किया गया है ? वैदिक आर्य देवताओं से चूंकि धन एवं संपत्ति की मांग किया करते थे इस कारण वे दरिद्र एवं अन्न के विना तड़पते होंगे और ऐसी स्थिति शिकारी जीवन पर अवलम्बित जंगली लोगों की होने के कारण वे लोग भी उत्पादन साधनों से अनभिज्ञ जंगली लोग ही होंगे यह कॉ० डांगे का अनुमान है। परन्तु यह अनुमान उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना कि श्री तुकाराम महाराज को उनके अभंग **'पतित मी पापी'** के आधार पर जन्मभर पंचमहापातक करने वाला महापापी मानना। यह दूसरा अनुमान जितना विकृत है उतना ही पहले अनुमान को भी समझना चाहिए। श्री डांगे ने संपत्ति एवं धन का अर्थ जो अन्न माना है वह भी कपोलकल्पित ही है। ऋग्वेद में सोना, मोती, रत्न आदि के उल्लेख हैं। और सोने के तो इतने विपुल उल्लेख हैं कि उससे यह निष्कर्ष सहज निकलता है

---

taboo and through that taboo and starvation alone is it approachable. The healthy growing living Vedic Aryan had no use for a non-existent, subjective, senseless miserable, 'Unseen' Brahman. To the Vedic Aryan, Brahman was the commune and its members and like the barbarian attached the moons, heavens, earth and all to the commune, which with the Agni (fire) was, of course, the centre of everything.

Vedic scholars have seen this in the literature, but being under the influence of idealist philosophy want to make this Brahman a mysterious thing. Haug Giggling, Hillebrantt, Ketkar, Tilak and all went round and round this Brahman and failed to identify him."

कि उस समय सोने की विपुलता रही होगी। अलंकार एवं पात्रों के तो विपुलता से उल्लेख हैं ही, सोने के रथों के भी वर्णन प्राप्त होते हैं। यज्ञ कर्म में ऋत्विजों को दान देते समय गाय, घोड़े, सुवर्ण, वस्त्र, रथ, भूमि आदि की गणना दक्षिणाद्रव्य के रूप में होती थी। यही नहीं, ऋग्वेद में तो सप्तरत्न एवं सामुद्रिक व्यापार के भी उल्लेख हैं। इन सारी बातों की ओर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धन शब्द का अर्थ केवल अन्न मानना निरा हठ है। ऋग्वेद में केवल दान के वर्णनों से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग शिकारी जीवन बिताने वाले जंगली लोग नहीं अपितु सुस्थिरता प्राप्त किये हुए धनसम्पन्न एवं सुखी लोग थे। प्रत्यक्ष ऋग्वेद में ही भिन्न भिन्न प्रकार के धंधों के उल्लेख हैं। क्या कभी जंगली लोगों में ऐसा व्यावसायिक जीवन संभव है? ऋग्वेद का एक सूक्तकार कहता है :—

नानानं उ नो धियो वि वैतानि जानानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।
इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१॥

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्।
कार्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छति।
इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥२॥

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोनुगा इव तस्थिम।
इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥३॥

—ऋग्वेद म० ९, सू० ११२

"हमारी बुद्धि नाना प्रकार की है और उसी तरह लोगों का व्यवहार भी नाना प्रकार का है। (जैसे) बढ़ई चीरी हुई लकड़ियों को ही ढूंढ़ता है, वैद्य रोगी को ढूंढता है और ब्रह्मा (ऋत्विज्) सोम अर्पण करने वाले भक्त की टोह में रहता है, परन्तु हे सोमरस, तू मात्र इंद्र के लिए ही अपना पावन प्रवाह सदैव बहने दे। पुरानी औषधियों, पक्षियों के पंखों या चमकने वाले पत्थरों के सहारे खटपटी मनुष्य सुवर्ण का भंडार खोजता है उसी प्रकार हम भी हिरण्यवर्ण के सोम की खोज करते हैं। हे सोम, तू इन्द्र के लिए अपना पावन प्रवाह सदैव चालू रख। मैं स्वतः कवि हूं, मेरा पुत्र वैद्य है तथा मेरी नना (माँ?) धान्य बीनकर उसमें के कंकड़ फेंक देती है। इस प्रकार द्रव्य की इच्छा करने वाले हम लोग नाना प्रकार की बुद्धि का उपयोग कर द्रव्य के पीछे उसी तरह दौड़ रहें हैं जैसे गाय तृण की ओर दौड़ती है; परन्तु हे सोम, तू मात्र अपना पावन प्रवाह इंद्र के लिए ही बहने दे।

बढ़ई, वैद्य, कवि आदि जिस समाज में हैं व प्रयत्नपूर्वक सुवर्ण का भंडार खोजने वाले लोग जिस समाज में हैं तथा उसी प्रकार जिस समाज में धान्य की सफाई के कार्य व्यवसाय के नाते विद्यमान हैं; वह समाज केवल अन्न को सम्पत्ति समझता था यह कहना सिवाय बौद्धिक दिवालियेपन के और क्या हो सकता है ? केवल भौतिक शास्त्र की प्रगति को ही देखें तो हम देखते हैं कि वेदकाल में अंकगणित व भू-मापन के नियम लोगों को ज्ञात थे। जो लोग सौ, हजार, तीस हजार, लाख, पाँच लाख (**सहस्राणि शतावधि। अधिपंचप्रधि॥ ऋ०मं० ४ सू० ३०**) आदि संख्याएँ गिन सकते थे उन्हें गणित आती ही होगी। इतनी संख्याओं का पद्धतियुक्त ज्ञान समाज की सुस्थिर एवं विकसित संस्कृति का द्योतक है यह बात कम से कम सुविज्ञ व्यक्तियों को तो बताने की आवश्यकता नहीं। यज्ञवेदी के भिन्न भिन्न प्रकार एवं यज्ञ प्रक्रिया में उनके महत्व की ओर यदि ध्यान दें तो एक बात मानना ही पड़ती है कि आर्यों को भूमिति शास्त्र का उत्तम ज्ञान था। सूर्य कभी अस्त नहीं होता और न उगता ही है इस सिद्धान्त का जिन्हें ज्ञान है, पृथ्वी की 'परीणाह' याने परिधि है यह जिन्हें ज्ञात है, समुद्र के जल से मेघ निर्माण होते हैं व सूर्य समस्त ऋतुचक्र का कारण है इसे जो जानते हैं, अनेक धातुओं का रस निकालकर औषधि निर्माण करने की कला जिनके समाज में है, लौह दुर्ग, सहस्रस्तंभयुक्त मंदिर आदि का उल्लेख करने योग्य जिनके पास शिल्पशास्त्र का ज्ञान है, उन लोगों को दब्बू जीवन व्यतीत करने वाले, शिकारी या जंगली कहने के लिए कम्युनिस्ट छाप बेशर्मी ही चाहिए। ऋग्वेद के जिस वाचक के अंतःकरण में प्रामाणिकता का अल्प सा भी अंश विद्यमान है वह कभी भी इतनी हिम्मत नहीं कर सकता। जलनाड़ी सरीखे यंत्र, ग्रहण का वेध जानने के साधन, चमकते पाँतों वाले भाले, लहरों पर थिरकने वाले जलविहार, वक्षस्थल पर शोभित होने वाली स्वर्णमालाएँ व स्वर्ण के बाजूबंद, जरी युक्त साफा सरीखे शिरोभूषण आदि केवल भौतिक शास्त्र के ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाले प्रगति सूचक चिन्हों का विचार करें तो हमें ऋग्वेद कालीन संस्कृति सम्पन्न लोगों के सुस्थिर जीवन की कल्पना हो सकती है। हो सकता है कि भटकने वाले जंगली लोगों का भी कभी इस पृथ्वी पर अस्तित्व रहा हो, किंतु उनका ऋग्वेदीय लोगों से कोई संबंध नहीं था यह स्पष्ट है। श्री डांगे का धन को केवल अन्न समझने वाला पांडित्य भी इस वर्णन के केवल ओझरते दर्शन मात्र से एक ओर धरा रह जाता है।

ऋग्वेद में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख है। आधुनिक लोगों के सर्वप्रिय तर्क प्रक्षेप को मान्य कर लेने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य—इन त्रैवर्णिकों के अस्तित्व को कोई भी अमान्य नहीं कर सकता। यह चातुर्वर्ण्यात्मक अथवा त्रिवर्णात्मक समाज रचना, भले ही वह हमारे कथन के अनुसार उच्चश्रेणी के ध्वनि-

शास्त्र पर आधारित हो अथवा गुणकर्म के आधुनिक अर्थ के अनुसार केवल स्वभाव व व्यवसाय पर आधारित हो, किंतु वह एक सुगठित समाज-पद्धति की निदर्शक है; इसमें संदेह करने का कोई स्थान नहीं है। और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी समाज-संघटना से युक्त समाज दब्बू जीवन की स्थिति को कभी का त्यागकर श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त कर चुका था। ऋग्वेद का केवल ऊपरी अध्ययन करने वाले को भी **'वक्षन् सविताय वर्णम्' 'उन्नौ वर्णो ऋषिरुग्रः पुपोष' 'मम हिताराष्ट्रं क्षत्रियस्य' 'क्षत्रिया यातमर्वाक्' 'विशः पूर्वीः चर्षणी आः' 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः। उरोरजस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत'** आदि समाज रचना की सुगठितता के उल्लेख दिखलाई पड़ेंगे। उसमें का अंतिम पुरुषसूक्त का उल्लेख यदि **'तुष्यतु दुर्जनः'** के न्यायानुसार अर्वाचीन कहकर छोड़ भी दिया जाय तो भी बाकी निर्विवाद रूप से प्राचीन हैं इसमें संदेह नहीं। क्या डांगे यह नहीं देख सके हैं ?

इस प्रकार श्री डांगे के भवन की नींव ढह जाने पर उसके आधार खड़े हुए भवन को भूमिसात् होने में भला कितनी देर लगेगी ? उनका यह कथन कि ऋग्वेदीय लोगों को पहले अग्नि का पता लगा और वही उनका सर्वश्रेष्ठ देवता बन बैठा, ऋग्वेद का ऋग्वेद के ही आधार पर अध्ययन करने से भ्रान्त सिद्ध होता है। वैदिक आर्यों का मुख्य देवता अग्नि नहीं है, इंद्र है। ऋग्वेद में अग्नि के अनेक सूक्त हैं, परन्तु यदि केवल सूक्तों की संख्या ही गिनी जाय तो भी उसमें इंद्र का ही पहला स्थान आता है। ऋषियों ने सर्वश्रेष्ठ देवता के नाते इंद्र की जितनी स्तुति की है उतनी और किसी की नहीं की। इस बात पर ध्यान देने से श्री डांगे की अग्नि वाली कहानी वायु में विलीन हो जाती है। सोम उन्मादक द्रव्य नहीं है यह वेदों के सोम संबंधी वर्णनों से ही स्पष्ट हो जाता है। आर्यों का देवतावाद कम्युनिस्टों की समझ से परे होने के कारण उपर्युक्त विवेचन केवल यह दिखाने के लिए किया है कि भौतिक एवं स्थूल दृष्टि से भी वेदसाहित्य की ओर देखने पर श्री डांगे का कथन कोरा वितण्डावाद सिद्ध होता है। अग्नि संबंधी डांगे के भाष्य को ही यदि सत्य मानें तो यह इंद्र कहाँ से आ टपका, और यदि इंद्र था भी तो उसका उन जंगली (!) लोगों के जीवन में ऐसा क्या उपयोग था कि उन्होंने अग्नि से भी अधिक उसके ही सूक्तों की रचना की एवं उत्कट भक्तिभाव से उसकी ही सर्वाधिक प्रार्थना की ? क्या डांगे इसका स्पष्टीकरण करेंगे ? क्योंकि उनके भारतीय इतिहास संबंधी तृतीय श्रेणी के उपन्यास 'इंडिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी' में इस बात का कहीं भी ऊहापोह नहीं है। स्थापत्यशास्त्र, दंपति-जीवन आदि के बारे में तो ऋग्वेद में इतने विपुल उल्लेख हैं कि डांगे की यह कथा कि अग्नि के चारों ओर घूम घूम कर वे

नाचते थे तथा खाना-पीना कर मनचाही स्त्री के साथ झोंपड़ी में विहार करते थे, केवल मूर्खतापूर्ण सिद्ध होती है। ऋग्वेद के केवल विवाह सूक्त व **'सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत'** इस उल्लेख का ही विचार करें तो उसमें हमें आर्यों की परिणत विवाहसंस्था का स्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। साम्यवादी डांगे आज के सुधरे (!) हुए युग में जो स्वैर एवं उच्छृंखल स्त्री पुरुष संबंध का वातावरण उत्पन्न करना चाहते हैं और जो शायद जंगली समाजों में होगा भी, उसका कम से कम वेदों में तो कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उनका यह कथन भी, कि कल्पनावादी तत्वज्ञान उत्पन्न करने योग्य ऋग्वेदीय समाज की प्रगति नहीं हुई थी और इस कारण ब्रह्म शब्द का अर्थ भिन्न किया जाना चाहिए, उसी प्रकार कपोलकल्पित है। ऋग्वेद के **'अस्य वामस्य'** एवं **'नासदीय'** सूक्तों का ही यदि विचार किया जाय तो उनकी यह कल्पना ढह जाती है। मुर्दे को चिता पर रखने के पश्चात् **'गच्छ धर्मणा'** कहने वाला ऋग्वेदीय ऋषि भारतीय संस्कृति के परिणतावस्था के कर्मतत्व, जीव के संसरण एवं इंद्रियातीत अस्तित्व के तत्व का ही उच्चार कर रहा है; यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। **"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं"** इन शब्दों में ऋग्वेद ने जिस परमतत्व का वर्णन किया है उसीका अनुवाद **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। असदेव सौम्येदमग्र आसीत्।'** में छांदोग्योपनिषद् ने व **'असतन्नासदुच्यते'** में भगवद्गीताकार ने किया है। इस परम तत्व की गूढ़ता एवं अज्ञेयता व्यक्त करते समय ऋग्वेद का ऋषि जो कुछ कहता है वही उपनिषद् भी कहते हैं। ऋग्वेद कहता है—**"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आऽजाता इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आ बभूव ॥६॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद य दिवा न वेद।।७।।** (ऋग्वेद मं० १० सू० १२९) "यह विविध सृष्टि कहाँ से व किस प्रकार हुई यह परमार्थतः कौन जानता है? कौन यहाँ इन बातों पर प्रवचन कर सकता है? देव इस विसृष्टि से अर्वाचीन हैं इस कारण यह मूल विसृष्टि ही कहाँ से निर्मित हुई यह कौन जान सकता है। यह सृष्टि कहाँ से निर्मित हुई व इसे कोई धारण करता है या नहीं, यह बात इसके स्वप्रकाश व परमव्योम का जो अध्यक्ष है वही अकेला जानता होगा (यदि वह नहीं जानता तो फिर कोई भी नहीं जान सकता)।" आगे के भारतीयों के 'छः अनादियों' में के पहले अनादि पर-ब्रह्म का ही क्या यह वर्णन नहीं है? उपनिषदों ने **'यतो वा इमानि भूतानि'** आदि वाक्यों में और ब्रह्मसूत्रकार ने **'जन्माद्यस्य यतः'** सरीखे सूत्रों में इसी बात का अनुवाद किया है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के सोलहवें सूक्त में वर्णन है कि इन्द्रियाँ अपने अपने देवताओं की ओर जाती हैं तथा आत्मतत्व 'अज' है।

और वह भाग अग्नि के द्वारा जलाया न जा सकने के कारण उसे केवल तृप्त करने की अग्नि से प्रार्थना की गई है। गीता में **'न जायते म्रियते' 'नैनं दहति पावकः'** आदि शब्दों के द्वारा आत्मा का जो वर्णन किया गया है क्या वह ऋग्वेद के इसी सिद्धान्त का अनुवाद नहीं है? **'कामस्य यत्राप्ताः कामाः'** यह उस आत्यंतिक स्थिति का वर्णन है जहाँ समस्त इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं। इसी को संभवतः उपनिषदों ने भी ऋग्वेद से ले लिया है। **'न विचानामि यत् इव इदमस्मिन्निण्यन सन्नद्धो मनसा चरामि'** (मैं स्वतः के आत्मस्वरूप को जानता नहीं इसीलिए मन के द्वारा बाँधा जाकर इस संसार में भ्रमण करता हूँ।) यह जो संसार के अज्ञान रूपी कारण का ऋग्वेद में वर्णन हुआ है उससे भिन्न उपनिषद्, श्री शंकराचार्य, गीताकार या श्री ज्ञानेश्वर महाराज भी क्या कहते हैं? प्रत्यक्ष ऋग्वेद की इन समस्त बातों का विचार करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अध्यात्म के बारे में ऋग्वेदकालीन आर्यों की इतनी प्रगति निस्संशय ही हो गई थी कि उनसे उपनिषत्काल के सिद्धान्तों का स्फुरण हो सके। और इस बात की निस्संदिग्धता पर जाने के कारण ही लोकमान्य तिलक सरीखे प्रतिभावान् पुरुषों ने ऋग्वेद के ब्रह्म शब्द का गंभीरता पूर्वक विचार किया है। गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण में उन्होंने इस बात का उत्कृष्ट ढंग से चित्रण किया है कि ऋग्वेद काल में ही किस प्रकार आर्यों की आध्यात्मिक परिणति पूर्णावस्था प्राप्त कर चुकी थी। लोकमान्य के उस विवेचन एवं डांगे के इस 'पांडित्य' को देखने के पश्चात् 'Fools rush in where angels fear to tread' इस अंग्रेजी कहावत की बरबस याद आ जाती है। तात्पर्य यह कि डांगे जिसे Idealist Philosophy कहते हैं वहाँ तक वैदिकों की प्रगति ऋग्वेद काल में ही हो गई थी यह प्रमाणों द्वारा स्पष्ट हो जाने के कारण हठात् उन्हें जंगली मानकर शब्दों का अर्थ बदलने की कोई आवश्यकता ही नहीं। और इन सारी बातों पर ध्यान देने पर श्री डांगे की यह डींग कि जो तिलकादि नहीं समझ सके वह केवल मैं ही समझ सका हूँ, व्यर्थ हो जाती है।

केवल भौतिक जड़दृष्टि ही डांगे सरीखे लोगों की विशेषता होने के कारण यहाँ उन्हीं की भूमिका के आधार पर उनके प्रतिपादन की समालोचना की है। परन्तु वेदों का अभ्यास करने वाले लोगों से हमारा यह कहना है कि यदि आर्यों का देवतावाद समझना है तो मन से यह भ्रम हटा देना होगा कि वे लोग निसर्ग-चमत्कार के उपासक व सृष्ट पदार्थों की पूजा करने वाले लोग थे। जंगली लोग भी केवल सृष्ट पदार्थों की पूजा नहीं करते अपितु उन चिन्हों को अदृश्य परमेश्वरी शक्ति का माध्यम मानकर ही उनकी पूजा-अर्चा करते हैं। जस्टिस वुड्राफ कहता है—

*"अफ्रीका में गोल्ड कोस्ट की नीग्रो जातियाँ इस संबंध में पूर्णरूप से जागरूक हैं कि उनकी पूजा अर्चा बाह्य पदार्थों के लिए न होकर उनके अंदर विद्यमान परमेश्वरी शक्ति के लिए है और जिस किसी आफ्रिकन से मैंने इस संबंध में बातचीत की वही इस बात पर उपहासपूर्वक हँसे बिना न रहा कि उसे पत्थर जैसे किसी सृष्ट पदार्थ की पूजा करने वाला समझा जाता है।"

आर्यों का आधिदैविक विचार सर्वप्रथम समझ लेना चाहिए, क्योंकि उसी से उनके देवतावाद का स्पष्टीकरण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस विषय का आगे विस्तार से विवेचन किया जायेगा।

वेदों में इहलौकिक आकांक्षाओं के तेजस्वी आविष्कार के आधार पर किये जाने वाले अनुमानों का स्वरूप हमने देखा। उस संबंध में यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि वेदों की आंतर्जीवन विषयक धारणा व उस दृष्टि से आर्यों द्वारा प्रगट किये गए भावों की ओर पूर्ण दुर्लक्ष किया गया है। वेदों के आधार पर वैदिकों के सांस्कृतिक स्तर को समझ लेने के पश्चात् इन अनुमानों की हिमराशियाँ अपने आप विगलित होकर वैदिक जीवन का कुछ दूसरा ही दर्शन प्राप्त होता है। और तब श्री केतकर का यह विधान कि 'ऋग्वेद में नीतितत्वों के अतिरिक्त बाकी सब कुछ है,' गलत लगने लगता है। वैदिकों के तेजस्वी जीवन के साथ ही साथ उनकी विकसित अंतःप्रेरणा के स्वरूप को भी देखना आवश्यक है। उस ओर हम अगले अध्याय में उन्मुख होंगे।

---

*"Even Negroes of Gold Coast are always conscious that their offerings and worship are not paid to the inanimate object itself but to the indwelling God, and every native with whom I have conversed on the subject has laughed at the possibility of it being supposed that he would worship or offer sacrifice to some object as stone." (Shakti and Shakta p. 279)

२

वैदिक जीवनवाद की धारणा

वेदों में दृष्टिगोचर होने वाले वैदिक लोगों के अंतरंग जीवन का दर्शन ही वास्तव में वैदिक राष्ट्र का दर्शन है। यह राष्ट्र-दर्शन सम्यक् रीति से तभी हो सकता है जब सब प्रकार के पूर्वग्रह से मुक्त होकर हम शुद्ध अन्तःकरण से उस साहित्य में जो साफ साफ दिखाई देता है उसे ग्रहण करने की सिद्धता रखें। इसके लिए कुछ पथ्य पालने की आवश्यकता है। श्री ब्रौक का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि अभिमानी ब्राह्मण जाति ने जगत् में किसी से कुछ भी उधार नहीं लिया। आर्य व अनार्य, स्थलनिर्णय, वेदकाल आदि प्रश्नों की चर्चा करते समय कुछ पूर्वग्रहों का तथा उनकी निर्मूलता का हमने इसके पूर्व वर्णन किया है। यह तो अब पाश्चात्य विद्वान् भी मान्य करने लगे हैं कि भाषासाम्य, स्थलनामसादृश्य, मानववंश शास्त्र आदि के सहारे सांस्कृतिक ऋणानुबंध, आक्रमण आदि सिद्ध नहीं किये जा सकते। भाषासाम्य के बारे में डॉ० कीथ का मत इस दृष्टि से मननीय है। वे कहते हैं : *"समस्त इंडो-यूरोपियन भाषाओं में कुछ विशेष बातें ऐसी हैं जिनके द्वारा एक गुट की भाषा का दूसरे गुट की भाषा से साम्य दर्शाया जा सकता है, परन्तु इन बातों के सहारे वंशमिश्रण व निष्क्रमण सिद्ध करना सर्वथा असंभव है।" ऐसे साम्य के आधार पर सांस्कृतिक ऋणानुबंध की कल्पना करना भी उतना ही धोखे का है। पराजित अंतःकरणों में सदा ही उद्भूत होने वाली हीनम्मन्यता ने हमारे अन्वेषकों के अंतःकरणों को इतना ग्रस लिया है कि सांस्कृतिक साम्य का विचार करते समय उन्हें जहाँ कहीं भी कुछ साम्य अथवा साधर्म्य दिखाई देता है वहाँ वे आग्रहपूर्वक यही प्रतिपादित करने लगते हैं कि भारतीयों ने ही उन उन समाजों का अनुकरण किया है। परन्तु इस प्रकार का अनुमान करते समय दो बातों का विचार करना आवश्यक है। पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या स्वतंत्र प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि वेदकाल में वैदिक संस्कृति से भी श्रेष्ठ किसी अन्य

---

*All the Indo-European languages have certain special points in which they agree with one or other of the groups and to deduce racial mixture and migration from these facts is quite impossible.

अवैदिक संस्कृति का अस्तित्व था ? इस दृष्टि से आर्य व अनार्य प्रकरण में हमने सविस्तार देखा कि यह सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के साम्य अथवा साधर्म्य का उन उन राष्ट्रों में प्राप्त होने वाली संस्कृति एवं समाजजीवन के संकेतों से मेल नहीं बैठता। उनका मेल भारतीय संस्कृति से ही बैठता है। इसके कारण का यदि हम सूक्ष्म रूप से विचार करें तो यह सहज सिद्ध हो जाएगा कि ये पदचिह्न भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति से ही संबद्ध हैं, उन भिन्न संस्कृतियों अथवा समाज-जीवनों की प्रकृति से नहीं, क्योंकि यदि वैसी बात होती तो आज भी उन संस्कृतियों एवं समाज-जीवनों में उनकी परम्परा बनी रहती। अर्थात्, यह स्पष्ट है कि जिस समाज की मूलप्रकृति में वे बातें नहीं हैं उसी समाज ने उन्हें उस समाज से उधार लिया होगा जिसकी मूल प्रकृति में वे बातें हैं। साधर्म्य व साम्य के आधार पर यदि ऋणानुबन्ध सिद्ध भी होता है तो वह अन्यों का भारतीय संस्कृति के प्रति ही ऋणानुबन्ध होगा। निर्विकार बुद्धि से एवं हीनम्मन्यता से मुक्त होकर यदि कोई विचार करे तो गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध के एतत्संबंधी निम्नलिखित उद्गारों से सहमत होना ही पड़ेगा। वे उद्गार हैं—"यह भाषासादृश्य एवं विभिन्न प्रकार के कतिपय साधर्म्य भारतीयों द्वारा भारत के बाहर साम्राज्य स्थापित करने के कारण एवं व्यापारिक आवागमन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए, यह कहना अयुक्त न होगा। भारतीय साहित्य में ऐसे प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीयों ने भारत के बाहर साम्राज्यों का संचालन किया। इसे अमान्य करने के लिए शास्त्र के नाम पर यूरोपियनों द्वारा उत्पन्न की गई भ्रमपूर्ण धारणाओं एवं ऋग्वेद में प्राप्त न होने वाली आक्रमण की मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं है।"[1] ऋणानुबंध का विचार जिन साम्य अथवा सादृश्य दर्शानेवाली बातों के कारण उत्पन्न होता है उनके बारे में उक्त विचार को ध्यान में रखकर वैदिक लोगों के अंतरंग को समझने के हेतु निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. वेदसाहित्य एक एक विषय का प्रतिपादन करने वाले अलग-अलग एवं स्वयंपूर्ण साहित्य नहीं हैं, बल्कि वे संग्रहग्रंथ हैं यह ध्यान में रखना आवश्यक है। प्रायः इस बात को मानने वाले अन्वेषक भी, प्रत्यक्ष उल्लेखों की जब बात आती है उस समय नगण्य बातों के लिए भी ऋग्वेद याने ऋग्वेद ऐसे बालकों के समान हठ करते हुए विकृत सिद्धान्त निकालने लगते हैं। ऋग्वेद में तो एक सूक्त का दूसरे सूक्त से ही क्या, अनेक बार एक ऋचा का भी दूसरी ऋचा से कोई संबंध नहीं रहता। आज हमारे सामने जो संहिताएं हैं उनकी रचना हुए कुछ सहस्रवर्ष बीत चुके हैं। और उस समय भी उन संहिताओं की निर्मिति नहीं हुई थी वरन् पहले से चले आये हुए सूक्तों को

1. Message of Rig-Veda

केवल एकत्रित किया गया था। आजकल ऋग्वेद संहिता का पर्याप्त सूक्ष्म अध्ययन हो चुका है एवं यह मत अब सर्वमान्य हो गया है कि आज की संहिताओं की रचना चार पाँच हजार वर्ष पुराने चले आये सूक्तों को एकत्रित करके ही हुई थी। पुराने बिखरे हुए सूक्तों के एकीकरण से ही आज की संहिता का स्वरूप उत्पन्न हुआ है। इस एकत्रीकरण में भिन्न-भिन्न ऋषियों के कुटुंबियों की आवश्यकतानुरूप एक एक मंडल में सूक्तों का संग्रह किया गया है। सामान्यतः एक अथवा कुछ नियत देवताओं की ऋचाएँ एक सूक्त में आवें यह दृष्टिकोण रखा गया है। इस कारण आज के परिशुद्ध गणितीय पद्धति से लिखे गये ग्रंथों में प्रयुक्त होने वाले निकष पर वैदिक साहित्य का परीक्षण करना एवं इस दृष्टि से उल्लेखों के अभावों को अनुपलब्धता का द्योतक मानना अत्यंत त्रुटिपूर्ण है। उसी प्रकार उल्लेखों का सूक्ष्म विचार करते समय यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शतकानुशतकों से भारतीय ग्रंथ सम्पत्ति का नाश होता आया है। इस कारण श्रेष्ठ आध्यात्मिक धारणा से युक्त कतिपय उल्लेख भी यदि ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं तो उनके द्वारा यह अनुमान निकालना ही सुसंगत एवं तर्कसम्मत होगा कि उक्त धारणा के समाज में उत्पन्न होने के लिए जैसी सुगठित एवं संपन्न समाज की रचना की आवश्यकता होती है वैसी समाज रचना उस काल में थी। इसके विपरीत यह कहना कि वे जंगली थे और इस कारण यदि भिन्न प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं तो शब्दों के अर्थ बदल देना चाहिए, केवल अप्रयोजकता ही होगी।

२. श्रेष्ठ जीवन की धारणा व्यक्त करने वाले कतिपय उल्लेख भी यदि प्राप्त होते हैं तो उनके द्वारा ही वैदिक लोगों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता को पहचानना चाहिए। इस प्रकार के संग्रह ग्रंथों में अमुक उल्लेख कितनी बार आया है यह महत्व का न होकर, वह कौनसी श्रेणी का है यही महत्व का हुआ करता है। मेरा उक्त कथन इस बात पर ध्यान देने से समझ में आ जायेगा कि वैदिक साहित्य हिमप्रलय सरीखे संपूर्ण मानव-संस्कृति के लिए विनाशकारी सिद्ध होने वाले संकट में से ज्यों त्यों बचाया गया है तथा बाद में किंचित् स्वस्थता के वातावरण में एकत्रित किया गया है। आज भी तो मानव संस्कृति की उच्चता निश्चित करते समय जिस साहित्य अथवा जिन खोजों का आधार लिया जाता है वे अतिशय थोड़े ही होते हैं। आज की मानवीय संस्कृति की उच्चता ठहराते समय हम उसकी ऊँचाई आईन्स्टीन के सापेक्षतावाद तक मानते हैं। इंग्लैंड के साहित्य के श्रेष्ठत्व का वर्णन करते समय शेक्सपियर का नाम लिया जाता है। परन्तु समाज में न्यूटन, आइन्स्टीन, शेक्सपियर, अरविन्द, चंद्रशेखर वेंकट रमण आदि कितने होते हैं? ऋग्वेदकालीन सांस्कृतिक श्रेणी का मूल्यमापन करते समय भी इसी न्याय का उपयोग करना चाहिए। राजकीय हेतु से प्रेरित पाश्चात्य लोगों ने निकष के इस सादे से नियम की ओर

भले ही दुर्लक्ष किया हो, किंतु स्वातंत्र्य के स्फूर्तिशाली उदय के पश्चात् अब तो कम से कम हमें अपने एवं अपने साहित्य के प्रति किये गये अन्याय के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक हो जाना चाहिए।

उल्लेख, भाषासाम्य व उल्लेखों की संख्या पर जोर देकर आर्यों की सुधारणा के संबंध में किये जाने वाले अनुमानों के बारे में निर्देश करते हुए लोकमान्य तिलक अपने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' में कहते हैं :—

*"अमुक एक सभ्यता का निदर्शक शब्द चूँकि सभी भाषाओं में प्राप्त नहीं होता इस कारण वह सभ्यता मूल आर्यों में थी ही नहीं यह युक्तिवाद तर्कसंगत नहीं हैं। तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुमानों का प्रयोग विध्यर्थी ही होना चाहिए, उनका निषेधार्थी प्रयोग उचित नहीं। प्रलयकाल में मूल सभ्यता का कितना भाग विनष्ट हो गया यह निश्चित करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है, किंतु इस बात को अमान्य नहीं किया जा सकता कि उसका कुछ भाग तो उस प्रलयंकर आपत्ति में नष्ट हुआ ही होगा। मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि आर्य सभ्यता के बारे में अनुमान लगाते समय तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्र का उपयोग अत्यंत सावधानी के साथ ही किया जाना चाहिए, क्योंकि हिम-प्रलय की उपपत्ति से आर्यों के जंगली होने की बात नितान्त असत्य सिद्ध हो गई है।"

इस दृष्टि से गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध के निम्नलिखित निर्देश पर वैदिक साहित्य के प्रत्येक अध्ययनकर्ता को ध्यान देना आवश्यक है। वे कहते हैं : "ऋग्वेद सरीखे संग्रह ग्रंथ में किसी एक बात के संबंध में कितने उल्लेख प्राप्त होते हैं

---

*"Though we may accept the results of comparative Philology so far as they go, we shall have to be more careful hereafter in inferring that such a thing was not known to primitive Aryans because common etymological equations for the same cannot be discovered in all the Aryan languages. We have, it is true, no means of ascertaining how much of the original civilisation was lost in the deluge but we cannot on that account, deny that some portion of it must have been irrevocably lost in the great cataclysm that destroyed the original home. I only want to point out the reservation with which we shall have now to accept the result of comparative philology in forming our estimate of the degree of culture reached by the primitive Aryans and show that when the primitive Aryan culture is carried back to the interglacial age, the hypothesis that primitive Aryans were hardly better than savage races of the present day at once falls to the ground."

—The Arctic Home in the Vedas (pp. 441 and 443.)

इसका महत्व नहीं है। एक बार भी यदि उसका उल्लेख प्राप्त होता है तो इतिहास की दृष्टि से वह अत्यंत महत्व का है। किसी भी काल के लोगों की संस्कृति का सार निश्चित करते समय अनेक प्रकार के उल्लेखों में से अधिक उन्नतिदर्शक उल्लेखों के आधार पर ही उस संस्कृति की उच्चता निश्चित की जानी चाहिए। आज भी तो हम आइन्स्टीन एवं रमण के आधार पर ही मानवी संस्कृति के विकसन का निर्णय करते हैं न ?"

३. किसी भी बात का ऋणानुबंध अथवा मूल उस संस्कृति की प्रकृति के आधार पर ही निश्चित करना चाहिए। केवल बाह्य सादृश्य के आधार पर उसका निश्चित किया जाना गलत है। जो वैदिक संस्कृति के मूल तत्वों के तथा उसकी प्रकृति के अनुरूप है उसे उसी संस्कृति का अंग समझना चाहिए और जो अनुरूप नहीं है उसे बाह्य मानना चाहिए; फिर चाहे प्रत्यक्ष उल्लेख प्राप्त हों अथवा न हों। वैदिक संस्कृति की प्रकृति में निम्नलिखित तत्व निहित हैं—

(१) अतीन्द्रिय अनुभूति के आधार पर आधारित शास्त्रप्रामाण्य (२) विश्व की नियामक शक्ति का अस्तित्व, उसकी ज्ञानमयता एवं सर्वशक्तिमत्ता (३) आत्मा का अमरत्व (४) जीव का कर्मानुसार संसरण (५) पुनर्जन्म (६) कर्मतत्त्व (७) संस्कार व कर्म के ऊपर अवलम्बित जीव का विकसन एवं पतन (८) प्रत्येक पदार्थ की कर्म व संस्कार के कारण होने वाली उत्क्रान्ति एवं अपक्रान्ति (९) अतीन्द्रिय विश्व व दृश्यसृष्टि, अथवा आधिदैविक एवं आधिभौतिक का परस्पराश्रय (१०) पशुत्व को नष्ट कर देवजीवन का निर्माण करने वाला ध्येयवाद तथा उसकी सिद्धि का साक्षात्कार, या अनुभूतिवाद (११) बाह्य जीवन के स्थान पर आंतर्जीवन के विकसन को ही जीवन मूल्य मानकर उसके अनुरूप बाह्य जीवन का निर्माण (१२) तप ही सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति का एकमेव साधन है व वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। (१३) स्वतः के स्वरूप का अज्ञान ही संसरण का कारण है; परमार्थतः सब कुछ एक ही है। इसी सिद्ध धारणा को ज्ञान कहते हैं। (१४) देव अतीन्द्रिय आधिदैविक एवं स्थूल विश्व का नियमन करने वाली शक्तियाँ हैं जो ज्योतिर्मय, ज्ञानरूप व अमर हैं। (१५) उनका एवं मानवों का परस्पराश्रय संबंध है तथा **'परस्परं भावयन्तः'** सूत्र के अनुसार मनुष्यों की तपस्या से देवताओं का बल बढ़ता है और देवों के अनुग्रह के कारण मनुष्यों का कल्याण होता है। (१६) मनुष्य देव हो सकता है। (१७) देवताओं के व्यवहार का निग्रहानुग्रह के अतिरिक्त और कोई हेतु नहीं है। (१८) यज्ञप्रक्रिया (१९) ध्यानयोग (२०) वाणी के दैवी व लौकिक दो स्वरूप हैं तथा वह परा, पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी— इन चार रूपों में प्रगट होती है। दैवी वाणी सामर्थ्यशील है तथा इस सामर्थ्य

सम्पन्न वाणी के द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। (२१) आधुनिक पदार्थ विज्ञान शास्त्र के समान ही समस्त सृष्टि को **भूः**, **भुवः**, **स्वः**, **महः**, **जनः**, **तपः**, व **सत्यम्**—इन सात भागों में विभक्त करने की सशास्त्र पद्धति। यही सप्त-लोकात्मक विश्व है।

इन तत्वों के अथवा वैदिक संस्कृति की इस प्रकृति के अनुरूप यदि कोई भी वस्तु प्राप्त हो तो उसे वैदिक संस्कृति से संबद्ध मानना ही चाहिए। हम आगे यह देखने ही वाले हैं कि ऋग्वेद के द्वारा ही वैदिक संस्कृति की प्रकृति किस प्रकार सिद्ध होती है तथा इस प्रकृति में किसी भी प्रकार के मूलभूत परिवर्तन का होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

४. प्रक्षेप सिद्ध करते समय भी इसी नियम का ध्यान रखना चाहिए। मूलभूत प्रकृति से जो पूर्णरूप से विसंगत हो उसे ही प्रक्षिप्त मानना चाहिए। पाश्चात्यों एवं उनके अंधानुयायियों ने इस प्रक्षेप रूपी ब्रह्मास्त्र का इतना विकृत उपयोग किया है कि प्रांजल बुद्धि वाले किसी भी निरीक्षक को उससे कंप उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। वेदों के गूढ़ रहस्यों के समाकलन एवं सिद्धान्तों की निश्चिति करते समय परम्परा की अबाधिता को ध्यान में रख-कर इतिहास, पुराण व वेदांगों की सहायता से वेदों का स्पष्टीकरण करना चाहिए। उसी प्रकार वैदिक शब्दों का अर्थ करते समय निरुक्त एवं सायण भाष्य का विचार अवश्य करना चाहिए। वेदार्थ का प्रयत्न करने वाले प्राचीन लोगों में आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, केवल यज्ञ परता के सूत्रों का ही उपयोग करने वाले मीमांसक तथा यास्क सरीखे नैरुक्तिक लोग थे। इनमें से प्रत्येक को अपने अपने संप्रदायानुसार वेदार्थ के प्रयत्न का जितना अधिकार था उतना ही अधिकार आज के वेदार्थ के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति को भी है। परन्तु ऐसे व्यक्ति को इन प्राचीन भाष्यकारों एवं आधुनिक पंडितों के बीच का एक मूलभूत अंतर ध्यान में रखना चाहिए। प्राचीन भाष्यकारों को परम्परा का ज्ञान था, सांस्कृतिक बंधन थे, परम्परा के बारे में आत्मीयता थी तथा संस्कृति का सूक्ष्म ज्ञान था। उसका संरक्षण करना उनका ध्येय था। यूरोपियन पंडितों के पास इनमें से एक भी बात नहीं है तथा उनमें से अधिकांश स्वयं के बारे में असीम अहम्मन्यता से भरे हुए तथा दुष्ट राजकीय हेतु से प्रेरित होते हैं। इस कारण प्राचीन भाष्यकारों के साहित्य के आधार पर परम्परा एवं संस्कृति की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर यदि कोई उस प्रकृति से सुसंगत कोई नवीन व भिन्न अर्थ निकालता है तो उस अर्थ के सत्य के अधिकाधिक निकट होने की पूरी संभावना हो सकती है। वेदों के रहस्य को समझने का प्रयत्न करते समय प्राचीन वेदार्थकारों द्वारा दी गई एक विशेष सूचना को ध्यान में रखना आवश्यक है। वह सूचना यह है कि

इतिहास व पुराण साहित्य की सहायता से वेदों का स्पष्टीकरण करना चाहिए।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ।।

(इतिहास व पुराणों की सहायता से वेदों के अर्थ को समझना चाहिए। वेद मूर्खों से सदा इस कारण डरता रहता है कि कहीं वे उस पर प्रहार न कर बैठें।)

पुराणों को गप्पों का पुलिन्दा मानने वाली खोटी समझ तथा '**पुराऽपि नवम्**' सरीखी हास्यास्पद व कल्पित उपपत्ति के कारण पुराणों के स्वरूप की यथार्थ कल्पना नहीं होती। पुराण शब्द '**पुर**' व '**अन्**' इन दो शब्दों के योग से बना है। '**अन्**' धातु का अर्थ है प्राणन् (अन् प्राणने) तथा '**पुर**' याने सप्तलोकात्मक विश्व। सप्तलोकात्मक विश्व के जीवन व्यापार का वर्णन करने वाले साहित्य को ही पुराण कहते हैं और इसी दृष्टि से डॉ० विंटरनिट्ज ने पुराणों का वर्णन Cosmic Mytholozy शब्द के द्वारा किया है। डॉ० केतकर के दाशराज्ञ युद्ध संबंधी विवेचन से यह अच्छी तरह ध्यान में आ जाता है कि जिन्होंने पुराणों को विश्व की स्थिति, सर्ग तथा विलयसंबंधी शास्त्र न मानकर केवल उसमें की वंशावलियों का ही विचार किया है उनकी पुराणों की ओर देखने की दृष्टि गलत सिद्ध हुई है। पुराणों के इस स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उसके आधार पर आर्यों के अधिदैव तथा उनके द्वारा किये गये विश्व के स्पष्टीकरण की ओर ध्यान देने से वेदों के देवतावाद की योग्य उपपत्ति प्राप्त होती है एवं निसर्गपूजा आदि कल्पनापाशों से मुक्ति होकर वैदिक देवताओं की योग्य कल्पना आती है। और तब यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक देवकल्पना का क्रमशः विकास मानना क्यों व कैसे गलत है। वैदिक संस्कृति के इतिहास के हिमप्रलय की विपत्ति के कारण दो विभाग पड़ गये। हिमप्रलय के पश्चात् बचे खुचे वेद साहित्य को एकत्रित कर श्री व्यास ने आज के वेदों का संहितीकरण किया है। परन्तु यह वेदों का दूसरा संहितीकरण है। इसके पूर्व, हिमप्रलय के पहले के काल में यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति, वैदिकों का सुगठित समाज तथा उसके लिए आवश्यक वेदों का संहितीकरण अस्तित्वमान थे। यह बात ऋग्वेद के द्वारा भी स्पष्ट है। वैदिक साहित्य में इस प्रलयपूर्वकालीन स्थिति का उल्लेख '**देवानां पूर्वे युगे**', '**तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**' आदि शब्दों के द्वारा हुआ है। विपुलता से प्राप्त होने वाले वास्तविक सोम की आहुति इसी प्रलयपूर्वकाल में वैदिक लोग अपने इष्ट देवताओं को दिया करते थे। विश्पला व मुद्‌गल के पराक्रम तथा घोषा व अपाला की उत्कट भक्ति का जो उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है वह इसी

काल की घटना है। मेक्सिको तक जिस संस्कृति के अवशेष आज भी प्राप्त होते हैं उस वैदिक संस्कृति का साम्राज्य समस्त जगत् में इसी काल में था। इस काल में उपलब्ध वैदिक संहिताओं का उल्लेख पुराण साहित्य में प्राप्त होता है यथा **'पुरूरवस् एवाऽसीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप'**, **'वेदा आसंश्चतुर्मुखात्'**। हिमप्रलय के कारण जगत् में जो उलट-पलट हुई उसके कारण यह समाज व्यवस्था ढह गई तथा आर्यों का सोम लुप्त हो गया। हमारे प्रलयोत्तरकालीन पूर्वजों ने अत्यंत निष्ठा एवं कष्टप्रद प्रयत्नों के द्वारा बचे खुचे वैदिक साहित्य का जैसे तैसे संरक्षण किया और यही कारण है कि आज के संहितीकरण में परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध सूक्त तथा एक ही सूक्त में परस्पर असम्बद्ध ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। श्री व्यास ने अपनी अतिमानवी प्रतिभा के सहारे यज्ञप्रक्रिया के सूत्र को पक्की तरह ध्यान में रखकर वेद साहित्य के संहितीकरण का महान् कार्य सम्पन्न किया। परन्तु प्रलयपूर्वकालीन इतिहास, विश्व के समस्त स्थित्यंतरों का शास्त्र तथा समाज घटना का उल्लेख समाज को मुखोद्गत था ही। उनका एक विशिष्ट पद्धति से संग्रह करने के निमित्त उन्होंने अठारह भागों में पुराणों की रचना की। पुराणरचना के इस स्वरूप पर ध्यान देने से इस बात की स्पष्ट कल्पना आ जाती है कि आर्यों की प्राचीन धारणाओं एवं उनके इतिहास का कितना विशाल भंडार पुराणों में संगृहीत है तथा उसका वैदिक साहित्य से कितना निकट का संबंध है। इसीलिए वेदों के स्वरूप को समझने के लिए पुराण व इतिहास साहित्य की सहायता लेने की बात कही गई है।

५. वैदिक साहित्य का निरीक्षण करते समय वैदिक समाज एकस्तरीय था यह कल्पना गृहीत रखकर भिन्न-भिन्न उल्लेखों के आधार पर वैदिकों के इतिहास के कालखंड निश्चित करने का पाश्चात्य अन्वेषकों ने प्रयास किया है। उच्च श्रेणी का आध्यात्मिक उल्लेख प्राप्त होने पर उसे अन्तर्-कालीन स्थिति का बोधक मानना तथा केवल इहलौकिक आकांक्षा अथवा अन्य देवताओं के उल्लेख प्राप्त होने पर उन्हें पूर्वकालीन मानना, यह समाज को एकस्तरीय मानने का ही द्योतक है। परन्तु यह सीधी सी बात मान लेने पर कि उस समय का समाज भी आज के समान ही बहुस्तरीय था, इस आनुमानिक इतिहास का महल ढह जाता है। आज जिस प्रकार एक ही यूरोपियन समाज में आइन्स्टीन सरीखे श्रेष्ठ शास्त्रज्ञ व तत्वचिंतक तथा डॉ० मलान सरीखे संकुचित एवं स्वार्थी वृत्ति के नृशंस व्यवहारवादी मनुष्य एक ही काल में समाज के भिन्न भिन्न स्तरों के प्रतिनिधि के नाते रहते हैं; अथवा भारत में ही अरविंद व रमण सरीखे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ, चंद्रशेखर वेंकट रमण सरीखे प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक तथा अच्छे बुरे सभी उपायों से केवल पेट देवता को ही पूजने वाले लोग एक ही काल में समाज के भिन्न भिन्न स्तरों के

प्रतिनिधि के नाते विद्यमान हैं, उसी प्रकार वे वेदकाल में भी रहा करते थे; यह अत्यंत सीधी सादी एवं सहज ही समझ में आने वाली बात है। किंतु यह कल्पना भी आधुनिक अन्वेषकों की बुद्धि में नहीं आती, यह कितना महान् आश्चर्य है ? एक ही काल में भिन्न भिन्न सामाजिक स्तरों के कारण जो अनेक उपपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनके लिए कालभेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह कि समाज अनेक स्तरीय होता है, यह ध्यान में रखना चाहिए।

६. भाषाशास्त्र, मानववंशशास्त्र, भूस्तरशास्त्र आदि अपूर्ण शास्त्रों की संभावित कल्पनाओं (Tentative Suggestions) को सिद्धान्त का स्वरूप न देते हुए उनकी उन कल्पनाओं का उपयोग सम्हालकर करना चाहिए।

७. प्राचीनता के कारण वैदिक साहित्य की कितनी ही बातें अत्यंत दुर्बोध बन बैठी हैं। ऐसी स्थिति में शब्दों के मनचाहे अर्थ लगाकर उनका स्पष्टीकरण करने तथा उस त्रुटिपूर्ण स्पष्टीकरण को लोगों के मत्थे मढ़ने की अपेक्षा न समझने वाली बातों को वैसा ही रखना हितावह होगा। इस प्रकार की प्रामाणिकता रामचंद्र विनायक पटवर्धन के 'श्रुतिबोध' नामक ऋग्वेद के विख्यात भाषान्तर में दिखलाई पड़ती है। **'पारावतघ्नी'**, **'नना'** सरीखे ऋग्वेद के दुर्बोध शब्दों का स्पष्टीकरण करने के व्यर्थ के प्रयत्न में न पड़कर उन्होंने वे शब्द मोटे छापे में उसी प्रकार मुद्रित कर अभ्यासकों के लिए मार्ग खुला रखा है। न समझने वाली बातों को वैसा ही रखना अच्छा।

८. अन्य सूत्र क्या कहते हैं यह गौण मानकर पूर्वग्रह रहित अंतःकरण से वेद साहित्य के आधार पर ही वेदों का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रेष्ठ जीवन दर्शक संकेत प्राप्त होने पर यह प्रामाणिकता से मान्य करना चाहिए कि उन लोगों का जीवन वैसा श्रेष्ठ था। अन्यथा कॉ॰ डांगे के कुतर्कानुसार वे लोग जंगली थे यह भ्रान्त कल्पना पहले ही पक्की तरह मान लेने पर बाद में ब्रह्म शब्द का स्पष्टीकरण करते बैठने की दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति बलात् पल्ले पड़ती है।

इन पथ्यों का पालन करते हुए यदि हम वैदिक साहित्य का अवलोकन करें तो उसमें हमें एक सिद्ध एवं श्रेष्ठ धारणा से युक्त समाज के स्वरूप का दर्शन होता है तथा उसी धारणा की आधारशिला पर भारतीय संस्कृति का यह स्फटिक मंदिर सहस्रावधि वर्षों से अक्षुण्ण खड़ा हुआ है, यह बात अच्छी तरह पट जाती है।

वैदिक आर्यों की नीतिमत्ता

वैदिक जीवनवाद के तेजस्वी आविष्कार के सहारे भी श्री डांगे ने कितनी विकृत कल्पना की है इसका स्पष्टीकरण गत अध्याय में हमने किया ही है।

डॉ० केतकर ने भी यह कहकर कि नीति छोड़कर बाकी सब बातें ऋग्वेद में हैं, पर्याय से यही सुझाया है कि ऋग्वेदकालीन लोगों की दृष्टि बाह्यजीवन के परे नहीं गई थी। आधुनिक इतिहास भी इसी पद्धति से लिखे जाने के कारण कितने ही गरम खून वाले हिन्दुत्वनिष्ठ प्रचारक 'यही जीवनवाद हमें चाहिए' ऐसा उथला प्रचार करते हैं तथा आगे की अंतरंग विकास की धारणा को दूषित कर देते हैं। परन्तु उपर्युक्त नियमों को ध्यान में रखकर वेद साहित्य की ओर देखने पर हमें दूसरी ही बात दिखाई देती है। धन, सम्पत्ति, प्रजा, पशु आदि के संबंध में पुरुषार्थ साधना की उनकी आकांक्षा हमने गत अध्याय में देखी। परन्तु यहाँ तक ही अपने को सीमित न रखते हुए हम ऋग्वेद तथा अन्य वेदसाहित्य में दृष्टिगोचर होने वाली अंतरंग जीवन की इस आकांक्षा को देखें।

इमे मा पीता यशसः उरुष्यवो रथं न गावः समनाहपर्वसु
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रावाद्यवयन्तु इन्दवः।
अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः प्रचक्षय कृणुहि वस्यसो नः
अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रेवानिव प्रचरा पुष्टिमच्छ॥

—(ऋ० ८-४८-५, ६)

"मेरे द्वारा प्राशन किया हुआ यह यशस्कर एवं पापनिर्मुक्त करने वाला सोमरस मेरे अंग प्रत्यंग में उसी तरह भिन गया है जैसे रथ व वृषभ एकत्र जुड़े रहते हैं; वह मेरा रक्षण करे, **मुझे चारित्र्य से भ्रष्ट न होने दे,** मुझे रोग से दूर रखे। फूंककर प्रदीप्त की हुई अग्नि के समान **मुझे उज्ज्वल कर**। हमें उत्तम दृष्टि दे। सदा उत्साहयुक्त रख। हे सोम, तू यदि हर्षित है तो मुझे लगता है कि मैं वैभवशाली ही हूँ। वैसी ही समृद्धि तू निरन्तर मुझे दे।"

चारित्र्य से भ्रष्ट न होने की अन्तःकरण की तड़पन तथा उज्ज्वल होने की आकांक्षा का उल्लेख प्रथम व दशम मंडल का नहीं है। यह उल्लेख अष्टम मंडल का है, यह आधुनिक अन्वेषकों को ध्यान में रखना चाहिए। ऐसी हालत में उसे बाद का मानने का कोई स्थान ही नहीं रहता। ऋग्वेद में नीति-विषयक कल्पनाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहने वाले यदि निम्न-लिखित उल्लेखों पर ध्यान देंगे तो अच्छा होगा। उसी प्रकार बिना किसी हिचक के यह कहने वाले कि प्रजा व धन के अतिरिक्त ऋग्वेदीय लोग और कुछ भी नहीं माँगते थे, भी निम्नलिखित उल्लेखों का मनन करें।

'अस्ये धेहि श्रवोबृहत्' (ऋ० ८-६५-९) 'हमें खूब कीर्ति दे।' **'अतारिष्म तमसस्पारं'** (ऋ० १-१८३-६) 'हम अज्ञानांधकार के पार होवें।' **'त्वं नः पाहि अंहसः'** (ऋ० ७-१५-१५) 'हमारा पाप से संरक्षण करो।' **'युयुताऽमतिम्'** (ऋ० ८-१८-११) 'हमारी बुद्धिहीनता समाप्त करो।' **'मा नो मर्ता**

अभिद्रुहन्' (ऋ० १-५-१०) 'मनुष्य हमारा द्रोह न करें।' **'मा वा एनो अन्यकृतं भूजेम्'** (ऋ० ६-५१-७) 'अन्यों द्वारा कृत पाप का प्रायश्चित्त भोगने का दुर्धर प्रसंग न आवे।' **'मा तत्कर्म वसवो यच्च यध्वे'** (ऋ० ६-५१-७) 'हे देवो! जिन पापकर्मों का तुम दंड देते हो वे पापकर्म हमारे हाथों से कभी न हों।' **'अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु'** (ऋ० २-२७-३) 'देव अंतःकरण में रहकर मनुष्यों के भले बुरे कृत्य देखते हैं।'

अभ्रातरो न योषणोव्यन्तः पतिरषो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥
(ऋ० १०-१२५-४)

'बंधुरहित अथवा आड़े आने वाली स्त्री, पति से द्वेष करने वाली पत्नी तथा कपटी एवं लबाड़ लोगों ने अगाध नरक उत्पन्न किया है।' **'आदित्यासो युयोतना नो अंहसः'** (ऋ० ८-१८-१०) 'हे आदित्य देव! आप हमें सब पापों से मुक्त करें।' **'इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि'** (ऋ० १०-९-८) 'मुझमें जो भी पाप हों उन्हें यह उदक बहा ले जाय।' **'उतो रयिः पृणतो नोप दस्यति उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते'** (ऋ० १०-११७-१) 'जो भूखों को अन्न देता है उसकी संपत्ति कभी क्षीण नहीं होती और जो नहीं देता उसे इस जगत् में सुख देने वाला कोई भी नहीं मिलेगा।' **'ऋतस्य पन्थां न तरति दुष्कृतः'** (ऋ० ९-७३-६) 'पापी लोग सत्य का मार्ग नहीं तय कर सकते।' **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोध्य जायत'** (ऋ० १०-१९०-१) 'यह समस्त सृष्टिधर्म व नीतिधर्म उस परमेश्वर के तपः सामर्थ्य से ही उत्पन्न हुआ है।' **'कृतं चिदेनो नमसा विवासे'** (ऋ० ६-५१-८) 'हमने जो जो पाप किये हों वे सब देवताओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार करने से नष्ट हो जाएं।' **'न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सासुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः'** (ऋ० ७-८६-६) 'हे वरुण देव! मनुष्य का स्वसामर्थ्य उसे पाप के लिए प्रवृत्त नहीं करता। इसका कारण तो उसके जन्म के समय निर्माण हुई उसकी दैवगति ही है। अर्थात् सुरा, क्रोध, जुआ, अज्ञान आदि सब दुर्वासना उत्पन्न करने वाली बातें दैवगति की ही घटक हैं।'

'नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।' (ऋ० १०-११७-६) 'देवों व इष्टमित्रों को भोजन न कराकर जो अकेला ही अन्न पर हाथ साफ करता है वह कृपण निरा पापी है।' (गीता में भगवान् के उद्गार **'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** क्या ऋग्वेद के इसी सिद्धान्त का अनुवाद नहीं हैं? इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि भारतीय नीति कल्पना ऋग्वेद काल में ही साकार हो गई थी तथा उसी का प्रभुत्व आजतक भारतीय अंतःकरण पर अपना अधिराज्य जमाये हुए है? इतने

पर भी श्री केतकर का यह कहना कि ऋग्वेद में नीतितत्त्व हैं ही नहीं क्या दुराग्रह मात्र नहीं है ?)

'परिहृतेदना जनो युष्मादत्तस्य वायति' (ऋ० ८-४७-६) 'स्वतः के परिश्रम से जीने वाला मनुष्य ही आप देवों के द्वारा दिये गये धन का उपभोग कर सकता है।' (यह क्या नीतितत्त्व नहीं है ?)

'पुलुकामो हि मर्त्यः' (ऋ० १-१७९-५) 'यह मनुष्य प्राणी विविध वासनाओं से युक्त है।'

'मा गा मनागामदितिं वधिष्ट' (ऋ० ८-१०१-१५) 'हे जनो ! निष्पाप व दैन्यरहित गोमाता का वध न करो।'

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।' (ऋ० १०-११७-६) 'जो महाकृपण है उससे प्राप्त हुआ अन्न बिल्कुल व्यर्थ है। मैं सच सच कहता हूँ कि वह अन्न है ही नहीं वरन् उसकी प्रत्यक्ष मृत्यु है।' (यह है ऋग्वेद का नीतितत्त्व !)

'माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्' (ऋ० २-२८-९) 'हे इन्द्र देव, दूसरों के अन्न के सहारे जीने का दुर्धर प्रसंग हम पर न आवे।'

'विश्वं सत्यं कृणुहि' (ऋ० ३-३०-६) 'हे परमेश्वर ! समस्त विश्व को धर्मपरायण बना दे।'

'श्रद्धे श्रद्धापयेह नः' (ऋ०१०-१५१-५) 'हे श्रद्धा देवी ! तू हमारे अंतःकरण में श्रद्धा की दृढ़ स्थापना कर।'

'स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय' (ऋ० १०-११७-३) 'घर में आये हुए भूख से व्याकुल एवं क्षीण व्यक्ति को जो अन्न देता है, वही दाता सच्चा पुण्यवान् है।'

'सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥' (ऋ० ७-१०४-१२) 'सत्य व अनृत में सदैव वाक्स्पर्धा चलती रहती है। उसमें जो सत्य और सरल होता है उसी की सोमदेव रक्षा करते हैं, और जो अनृत अर्थात् असत्य होता है उसका वे विनाश कर देते हैं।'

'समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥' (ऋ० १०-१९१-४) 'ओ मित्रो ! तुम सबके मन समान विचारों के अर्थात् एक ही निश्चय से प्रेरित हों जिससे तुम्हारे सब मनोरथ सहज सिद्ध हो जाएं।'

'समाना हृदयानि वः' (ऋ० १०-१९१-४) 'तुम सबके अंतःकरण एक जैसे हों।'

'सुगा ऋतस्य पन्थाः' (ऋ० ८-३१-१३) 'सत्य का मार्ग हमें सुगम हो।'

'सुरा मन्युर्विदको अचित्तिः (अनृतस्यप्रयोता)' (ऋ० ७-८६-६) 'सुरा,

क्रोध, जुआ, अविचारादि सब दुर्व्यसनों को प्रोत्साहन देने वाली व इस कारण दुर्गति को प्राप्त कराने वाली अधम बातें हैं।'

'स्वप्नश्चने अनृतस्य प्रयोता' (ऋ० ७-८६-६) 'स्वप्न भी कभी-कभी दुर्वासना का प्रेरक होता है।'

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम' (ऋ० ५-५१-१५) 'हम सदा कल्याण के सरल मार्ग का ही अनुसरण करें।'

वैदिकों के तेजस्वी जीवनवाद का आविष्कार करने वाले गत अध्याय के उल्लेखों के समान ही ये उल्लेख भी ऋग्वेद में विपुल मात्रा में हैं। यहां उद्धृत किये गये उल्लेखों से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि वैदिक लोग केवल प्रजा एवं धन के पीछे पड़े हुए भोगवादी लोग न होकर उच्च नैतिक मूल्यों के सिद्ध अधिष्ठान से युक्त शील, चारित्र्य व निष्पापता की ईप्सा रखने वाले उच्च संस्कृति संपन्न लोग थे ? इन उल्लेखों का जो योग्य रीति से मनन करेगा उसके अंतःकरण की सारी भ्रामक कल्पनाओं का हिमनग, कि आर्य लोग पिछड़े व जंगली थे, वे केवल धन और प्रजा के पीछे लगे हुए थे, उनमें नीति कल्पनाओं का उदय नहीं हुआ था आदि, क्षणमात्र में विगलित होकर बह जाएगा। जिनका पवित्रता एवं शुद्धता पर इतना जोर है कि वे स्वप्न में भी पाप से संरक्षण पाने की ईश्वर से आर्त प्रार्थना करते हैं उन लोगों के अंतरंग जीवन के विकास के संबंध में और कौनसा स्पष्ट प्रमाण चाहिए ?

वैदिक लोग स्वतः तो निरे भोगवादी थे ही नहीं बल्कि उन्हें उन लोगों से अत्यधिक घृणा भी थी जो भोगवाद एवं व्यक्तिसुखवाद का पुरस्कार किया करते थे। कालिदास ने रघुवंश के राजाओं का **'त्यागाय संभृतार्थानाम्'** अर्थात् त्याग के लिए अर्थ संचय करने वाले कहकर जो वर्णन किया है वह ऋग्वेदीय जीवन के लिए यथार्थता से लागू होता है। व्यक्तिसुखवाद के परे उन्होंने सामाजिक दृष्टि का पुरस्कार किया है तथा जिनकी धनसम्पत्ति का सामाजिक आवश्यकता के लिए उपयोग नहीं होता उनका व्याजोक्तिपूर्ण निर्दय उपहास कर स्वार्थप्रवृत्ति के प्रति अपनी कटुता की भावना व्यक्त की है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कुछ ऋचाएँ देखिए :—

न वा ऊ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥१॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोप जग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥२॥

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरिषु कृणुते सखायम् ॥३॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाऽभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोकोऽस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥
पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत् पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥५॥
मोघमन्नं विन्दते अप्रऽचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति न सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥
कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन्ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिस्यात् ॥७॥
एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमानः ॥८॥
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥९॥

(ऋग्वेद १०, ११७, १ से ९ तक)

१. देवता यह नहीं चाहते कि मनुष्य भुखमरी से मर जाय, क्योंकि हम देखते हैं कि ठूँस-ठूँस कर खाने वाले भी मृत्यु के मुख में जाते ही हैं। अर्थात् भरपेट अन्न खाने वाले को मृत्यु नहीं आती ऐसी कोई बात नहीं है और (यह ध्यान में रखें कि क्षुधित को) अन्नदान से संतुष्ट करने से किसी की भी संपत्ति नष्ट नहीं होती, परन्तु जो क्षुधित को अन्न देकर संतुष्ट नहीं करता उसे (संकटकाल में अथवा परलोक में) कोई ऐसा नहीं मिलता जो उसके काम आये। (इस प्रथम ऋचा का श्री ए० लुडविग ने अपने ग्रन्थ Der Rigweda में बहुत अच्छा भाष्य किया है। वह कहता है : "क्षुधा से व्याकुल हुए मनुष्य को अन्नदान न करना याने देवों की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करना है ऐसा जो कहा गया है वह व्याजोक्ति है। जो दांभिक लोग यह कहकर कि 'क्षुधा से व्याकुल लोगों का भवितव्य परमेश्वर ने पहले ही निश्चित कर दिया है,' अपने स्वतः की निष्ठुरता का समर्थन करते हैं उन लोगों के लिए यह व्याजोक्ति कही गई है। इसमें व्याजोक्ति है यह आगे की बात से सिद्ध होता है। आगे चलकर अंत में सूक्तकर्ता कवि कहता है कि यदि ईश्वर का संकेत ऐसा है कि गरीब लोग भूख से मरा करें तो उनका ऐसा भी संकेत अवश्य ही होगा कि श्रीमान् लोग चिरजीवी रहें।")

२. (ध्यान में रखिए) कि क्षुधा से त्रस्त अन्नार्थी याचक जब भोजन माँगता हुआ (द्वार पर) खड़ा हो उस समय जो (उसे कुछ न देते हुए) मन कठोर कर उसके सामने बैठकर भोजन करता है उसका (अधोगति से) कोई उद्धार नहीं कर सकता।

३. अन्न के लिए घूमने वाले तथा क्षुधा के कारण क्षीण हुए याचक को जो अन्न देता है उसी को वास्तव में उदार तथा सब प्रकार के यज्ञ पूर्ण करने वाला समझना चाहिए। अपने इस कृत्य से वह अन्नदाता अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति के लिए एक अत्यंत निकट का साहाय्यकर्ता प्राप्त कर लेता है।

४. अपने यहाँ सदैव आने वाले तथा अपने पास सदैव रहने वाले मित्र को जो योग्य प्रसंग पर निमन्त्रित नहीं करता वह उस मित्र का मित्र नहीं है। ऐसे (निकृष्ट वृत्ति के) मनुष्य से दूर रहना चाहिए। उस व्यक्ति का घर, घर ही नहीं है (क्योंकि वह गृहस्थधर्म का पालन नहीं करता)। उसे छोड़कर ऐसे किसी बाहरी व्यक्ति से ही क्यों न हो मित्रता करनी चाहिए जो मित्रवर्ग को भोजन के लिए आमंत्रित करता है और क्षुधितों को अन्न से संतुष्ट करता है।

५. सम्पत्तिवान् मनुष्य को चाहिए कि वह (मित्र तथा) क्षुधार्त याचकों को अन्नदान देकर संतुष्ट करे। क्योंकि जो हितकर मार्ग है उसी पर दृष्टि रखनी चाहिए, भले ही वह दूर का क्यों न हो। रथ के चक्के जिस प्रकार (रथ चलते समय) अभी यहाँ तो क्षण भर बाद ही दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार सम्पत्ति भी आज इसके पास तो कल उसके पास इस रीति से घूमती रहती है।

६. (इस प्रकार का आचरण जो नहीं करता) उस मूर्ख ने व्यर्थ ही अन्न प्राप्त करने का श्रम किया। मैं तो यही कहूँगा कि (उस मूर्ख द्वारा सम्पादित वह अन्न अन्न नहीं है बल्कि) वह उसकी प्रत्यक्ष मृत्यु ही है। क्योंकि जो (याचक रूप से आने वाले) अर्यमादिकों को अन्न समर्पण कर प्रसन्न नहीं करता और न मित्रों को ही संतुष्ट करता है, वरन् अकेला ही उसे खा जाता है, वह अकेला आप महापातकी बनता है।

७. हल चलाने का परिश्रम करने पर ही हल की फाल हमें तृप्तिदायक धान्यादिक पदार्थ देती है। उसी प्रकार परोपकारी मनुष्य अपने परिश्रम एवं सत्कर्मों से दूसरों के लिए मार्ग बना देता है। विद्वान् परन्तु कुछ न बोलने वाले मौनी बाबा की अपेक्षा दूसरों को सिखाने में अपनी विद्या का उपयोग करने वाला मनुष्य ही श्रेष्ठ है। उसी प्रकार अन्नदान से याचक को तृप्त करने वाला पुरुष ही आप्त है। वह दानधर्म न करने वाले कंजूस का निश्चित ही पराभव करेगा।

८. जिसका एक ही पैर है वह (खड़ा न हो सकने वाला बालक) कल दो पैर से चलने वाले आदमी का साथ करेगा और जो दो पैर से चलने वाला है वह तीन पैर से (अर्थात् सत्कृत्य रूपी लकड़ी का सहारा लेकर)

चलने वाले व्यक्ति की स्थिति को प्राप्त करेगा। चतुष्पाद भी द्विपाद (मनुष्यों) का शब्द सुनकर अपने-अपने समुदाय सहित उठकर (मनुष्य का) अनुकरण कर चलने लगते हैं। (इस ऋचा के संबंध में डॉ० विंटर-निट्ज की कल्पनाएं कि एकपाद याने एकपाद अज अर्थात् मरुद्देवता, त्रिपाद याने लाठी का आधार लेकर खड़ा हुआ बुड्ढा और चतुष्पाद याने कुत्ता, गलत हैं। और डॉ० केतकर का इस ऋचा को कूटकाव्य का उदाहरण मानना भी सयुक्तिक नहीं है। वस्तुतः यह ऋचा सरल है और श्रुतिबोधकार द्वारा किया गया उसका अर्थ ही प्रासंगिक और सरस होने के कारण हमने उसी को मान्य किया है।)

९. (व्यवहारतः) हमारे दोनों हाथ समान होने पर भी वे समान कार्य नहीं कर सकते। माताएं यदि दो हों तो दोनों का समान रूप से पयस्राव नहीं होता। एक ही माता के दो यमज पुत्र होते हैं परन्तु दोनों का कर्तृत्व एक जैसा नहीं रहता। उसी प्रकार एक ही (कुलीन) घराने में जन्म लेने के पश्चात् भी सबके अन्तःकरण समान नहीं होते।

इस सूक्त का जो भी मनन करेगा उसे यह स्पष्ट दिखाई देगा कि आज जिन धार्मिक जीवन की मान्यताओं के कारण हम याचक को परमेश्वर का प्रतिनिधि मानते हैं तथा हमारे सत्त्वपरीक्षण के लिए आये हुए उस देवता का अपमान करना पापमय समझते हैं, उन सारी मान्यताओं का मूल ऋग्वेद के उस प्राचीन काल में ही निहित है। 'जो केवल स्वतः का ही स्वार्थ देखता है वह मनुष्य स्वतः का ही पाप खाता है' इन तीव्र शब्दों में स्वार्थवादी प्रवृत्ति का धिक्कार कर सामाजिक प्रवृत्ति का, और वह भी निष्कामत्व की भूमिका से, जो प्रबल पुरस्कार किया गया है उसे देखकर ही यह कहने का साहस किसी को नहीं होना चाहिए कि ऋग्वेदीय जीवन नीतिमत्ता का पुरस्कार करनेवाला नहीं था। डॉ० केतकर भी इस सूक्त पर पहुँचकर गड़बड़ा गये हैं और अन्त में उन्होंने यह हास्यास्पद पुष्टीकरण जोड़ा है कि ऋग्वेद में नीतितत्त्वों का निर्देश इस सूक्त के सिवाय अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। इस कारण ऋग्वेद में ये सूक्त बड़े ही आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। चारों वेदों को एक समझकर ही उनका अभ्यास करना चाहिए, ऐसा मत व्यक्त करने वाले डॉ० केतकर का ऋग्वेद को केवल ऋग्वेद के रूप में ही देखना उचित प्रतीत नहीं होता। और यदि उसे उचित माना भी जाय तो भी उनका विधान असत्य ही सिद्ध होता है यह हमने पहले देखा ही है। यह एक सूक्त ही नहीं, ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर नीति का पुरस्कार करने वाले, चारित्र्य की भूख दर्शाने वाले तथा ऋषियों की स्वप्न में भी अशुद्धता उत्पन्न न होने संबंधी उत्कंठा दर्शाने वाले जो विविध उल्लेख पहले दिये गये हैं उनके द्वारा

ऋग्वेदीय जीवन की श्रेष्ठ धारणा का स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। उनकी सत्य के प्रति निष्ठा केवल **'सत्यं वदति हन्त्यातत्'** सरीखे उद्गारों द्वारा ही प्रगट नहीं होती अपितु उन आख्यान सूक्तों के द्वारा भी उत्कृष्ट रीति से व्यक्त होती है जिनमें चारित्र्यसम्पन्न, सत्यनिष्ठ तथा किसी भी प्रकार के प्रलोभन में न पड़नेवाली सरमा का पणियों से संवाद वर्णित किया गया है।

सरमा-पणि संवाद

इस आख्यानसूक्त की पार्श्वभूमि इस प्रकार की है—"देवगुरु बृहस्पति इन्द्र के राजपुरोहित थे। उनके पास सुन्दर एवं दुधारू गायों का एक बड़ा झुंड था। चोर पणियों ने (पणि अनार्य थे तथा वे बड़े संस्कृति सम्पन्न थे व आर्यों ने ही उन्हें ठगा, ऐसी एक कल्पित कथा आजकल के अन्वेषकों ने तैयार की है। परन्तु वेदों द्वारा यही सिद्ध होता है कि वे आर्य ही थे तथा व्यापार करते थे, किंतु धनलोभी होने के कारण अपहरणादि हर संभव उपायों से संपत्ति जोड़ा करते थे।) अवसर देखकर गायों को हर लिया और अपने स्थान में ले जाकर उन्हें सुरक्षित एवं बंद पर्वतीय गुफाओं में छिपा दिया। बृहस्पति ने अपनी गायों के चुराये जाने की बात इन्द्र के कानों तक पहुँचाई व अपनी गायों का पता लगाने के लिए उनसे कहा। इन्द्र ने गायों का पता लगाने के लिए सरमा नाम की अपनी विश्वसनीय दूती को भेजा। वह घूमते-घूमते रसा नदी पारकर पणियों के प्रदेश में आई और खोज करते-करते उस स्थान पर पहुँची जहाँ पणियों ने गायों को छिपा रखा था। सरमा को देखकर पणियों के मन में संदेह उत्पन्न हुआ और वे उसके पास जाकर वह कौन है, कहाँ से आई है आदि बातों की पूछताछ करने लगे। उस समय पणियों का और सरमा का जो संवाद हुआ उसका ऋग्वेद के सूक्त में अत्यन्त उत्कृष्टता से वर्णन हुआ है। वह निम्नानुसार है—

**किम् इच्छन्ती सरमा प्र इदम् आनट् दूरे हि अध्वा जगुरिः पराचैः।
का अस्मेऽहितिः का परिऽतक्म्या आसीत् कथं रसायाः अतरः पयांसि ॥१॥**

**इन्द्रस्य दूतीः इषिता चरामि महः इच्छन्ती पणयः निऽधीन् वः।
अतिऽस्कन्दः भियसा तत् नः आवत् तथा रसायाः अतरम् पयांसि ॥२॥**

**कीदृङ् इन्द्रः सरमे का दृशीका यस्य इदं दूतीः असरः पराकात्।
आ च गच्छात् मित्रम् एन दधाम अथ गवाम् गोऽपतिः नः भवति ॥३॥**

**न अहं तं वेद दभ्यं दभत् सः यस्य इदं दूतीः असरम् पराकात्।
न तम् गूहन्ति स्तवतः गभीराः हताः इन्द्रेण पणयः शयध्वे ॥४॥**

इमाः गावः सरमे या ऐच्छः परिदिवः अन्तात् सुऽभगे पतन्ती ।
कः ते एनाः अवसृजात् अयुध्वी उत अस्माकम् आयुधा सन्ति तिग्मा ।।५।।

असेन्या वः पणयः वचांसि अनिषव्याः तन्वः सन्तु पापीः ।
अधृष्टः वः एन वै अस्तु पन्थाः बृहस्पतिः वः इभया न मृलात् ।।६।।

अयम् निऽधिः सरमे अद्रिऽबुध्नः गोभिः अश्वेभिः वसुऽभिः निऽऋष्टः ।
रक्षन्ति तम् पणयः ये सुऽगोपाः रेकु पदम् अलकम् आ जगन्थ ।।७।।

आ इह गमन् ऋषयः सोमऽशिताः अयास्यः अङ्गिरसः नवऽग्वाः ।
ते एतम् ऊर्वम् वि भजन्त गोनाम् अथ एतत् वचः पणयः वमन् इत ।।८।।

एव च त्वम् सरमे आऽजगन्थ प्रऽबाधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारम् वा कृणवै मा पुनः गाः अपते गवाम् सुऽभगे भजाम ।।९।।

न अहम् वेद भ्रातृऽत्वम् नो (इति) स्वसृत्वम् इन्द्रः विदुः
अङ्गिरसः च घोराः ।
गोऽकामाः मे अच्छदयन् यत् आयम् अप अतः इत पणयः वरीयः ।।१०।।

दूरम् इत पणयः वरीयः उत् गावः यन्तु मिनतीः ऋतेन ।
बृहस्पतिः या अविन्दत् निऽगूलहाः सोमः ग्रावाणः ऋषयः च विप्राः ।।११।।

—ऋग्वेद मं० १० सू० १०८

पणियों ने पूछा, "सरमा ! तू किस उद्देश्य से यहाँ आई है ? इतने लंबे प्रवास से क्या तू थकी नहीं ? तुझे डर नहीं लगा ? रात में तू कहाँ रही ? वेग से बहती हुई इस रसा को तूने कैसे पार किया ?"

यह सुनकर सरमा ने कहा, "पणियो! मैं इन्द्र की दूती हूँ। इन्द्र मेरे संरक्षक हैं, इस कारण मुझे आज तक किसी व्यक्ति या किसी वस्तु का डर नहीं लगा। तुम्हारी यह रसा नदी मैं सहज ही पारकर आई हूँ।"

पणि :—अच्छा ! जिस इन्द्र की तू दूती है वह इन्द्र कैसा है ? क्या वह यहाँ आयेगा ? तू उसे यहाँ लायेगी ? उसकी दृष्टि किस प्रकार की है ?

सरमा :—पणियो ! उस इन्द्र की महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ ? सच पूछा जाय तो उसे मारने वाला कोई नहीं है। उल्टे वही सबको मार सकता है।

पणि :—क्या वह हम लोगों को भी मार सकता है ?

सरमा :—क्यों नहीं ? तुम लोग भला किस खेत की मूली हो। तुम्हें वह सहज ही समाप्त कर सकता है। जमीन पर गिरा-गिरा कर वह

तुम्हें मारेगा। पणियो ! उससे लड़ने की कल्पना करोगे तो व्यर्थ ही जान से हाथ धोओगे।

पणि :—सरमा ! तू जिन गायों को माँगती है उन्हें हमसे बिना लड़े कौन छुड़ा सकता है ? हमारे सामने खड़े होने की हिम्मत ही किसकी होगी ? हम पणियों ने हाथों में चूड़ियाँ थोड़े ही पहन रखी हैं। हमारे हथियार अत्यन्त तीक्ष्ण एवं मारक हैं। तेरा इन्द्र हमारा क्या बिगाड़ सकता है ?

सरमा :—औरतों सरीखी बड़बड़ मचाने में क्या रखा है ? पापियों के समान तुम लोगों ने बड़बड़ मचा रखी है। ऐन मौके पर कहीं भाग न जाना !

पणि :—इन्द्र जब यहाँ आयेगा तब देखा जाएगा। पहले तो हमारी रसा नदी ही पार करना इतना दुरूह है कि उसे लांघने की इन्द्र की हिम्मत ही न होगी।

सरमा :—अरे पागलो ! यह सब तुम लोगों का भ्रम है। तुम्हारी यह रसा नदी उसे बिलकुल भी न रोक सकेगी।

इन्द्र का यह वर्णन सुनकर पणि घबरा गये और सरमा को प्रलोभन से वश में करने के लिए उससे कहने लगे, "सरमा ! हमारी बात सुनोगी ? यदि सुनोगी तो हम तुझे निहाल कर देंगे।" इस पर सरमा ने कहा, "तुम लोग पहले मेरी पूरी बात सुनलो। मैं कहती हूँ कि यदि तुम्हें इन्द्र की मैत्री चाहिए तो चुपचाप बृहस्पति की गायें छोड़ दो। पणियो ! बुद्धि से काम लो, अपनी मौत न बुलाओ। तुम्हारी रसा नदी इन्द्र को रोकने में सर्वथा असमर्थ है। तुमने यदि उनकी गायें न छोड़ीं तो इन्द्र व बृहस्पति दोनों ही आकर तुम्हें तुम्हारी करनी का मजा चखायेंगे और तुम्हारा पारिपत्य करेंगे।

पणि :—एक रसा नदी ही नहीं है। हमारा यह पर्वतीय बंदीगृह भी अत्यंत दुर्भेद्य है। उसमें अनेक गायें, घोड़े एवं अपार संपत्ति भरी हुई है और उसके आसपास हमारे शूर पणि हाथों में प्रखर अस्त्र लेकर अत्यंत जागरूकता से हमारी इस निधि का संरक्षण कर रहे हैं। तू यहाँ व्यर्थ ही आई है। तेरे इन्द्र, बृहस्पति हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। हम सरीखे वैभव एवं सामर्थ्यसंपन्न लोगों के आगे उनकी हस्ती ही क्या है ?

सरमा :—पापी लोगों को सद्बुद्धि भला कहाँ से आयेगी। तुम लोगों की बड़बड़ का यही अर्थ है कि तुम्हारा काल सन्निकट आ गया है। तुमने यदि गायें न छोड़ीं तो सोमपान से प्रमत्त हुए अयास्य,

अङ्गिरस और नवग्व यहाँ आयेंगे व तुम्हारा पराभव करेंगे। गायों को छुड़ाकर वे आपस में बाँट लेंगे।

सरमा के ये निर्भीक वचन सुनकर पणि उससे कहने लगे, "ये सारी बातें रहने दे। तू जब वहाँ जाकर उनको बतायेगी कि गायें यहाँ हैं तभी तो वे यहाँ आयेंगे ? हम उनसे डरते हों सो बात नहीं है। परन्तु हे सरमा ! तेरे कष्ट हमसे देखे नहीं जाते। इतने कष्ट सहकर तू यहाँ आई। अब पुनः जाने के पचड़े में न पड़ते हुए तू यहीं हमारी बहन बनकर रह जा। हम तुझे यहाँ रख लेंगे। तू बुद्धिमती है, हमारी बात मान जा। इन्द्र के त्रास से व्यर्थ ही अपने आपको कष्ट देने की अपेक्षा हमारी बहन बनकर यहाँ सुख से रहना क्या अधिक अच्छा नहीं है ?

सरमा :—क्या कहा ? तुम्हारी बहिन !

पणि :—हाँ, हाँ ! हमारी बहिन। तुझे व्यर्थ में भटकाने वाले उस इन्द्र को छोड़कर हमारी बहिन बनकर यहाँ सुखचैन से रहना क्या अधिक अच्छा नहीं है ? अतः तू अब वापस न जा।

सरमा :—पणियो ! मैं इतनी मूर्ख नहीं कि तुम्हारे इस बहकावे में आ जाऊँ। इन्द्र के बल की तुम लोग कलपना नहीं कर सकते। मैं इन्द्र को पहचानती हूँ और तुम लोगों को भी अच्छी तरह से जानती हूँ।

पणि :—अरे, केवल बहिन ही नहीं ! हम तुझे लाई हुई गायों का एक हिस्सा भी देंगे। हम तुम उन्हें बाँट लेंगे।

सरमा :—पणियो ! तुम लोग मूर्ख हो। मैं सरमा न तो तुम्हारा भाईचारा जानती हूँ और न बहिनापा। इन्द्र व अंगिरस ही सब कुछ जानते हैं। मैं सत्य कहती हूँ कि मैं जब इन्द्रादि देवों के पास जाऊँगी, तब वे मेरे देव यहाँ आकर तुम्हारा पराभव करेंगे और तुम लोगों ने जो गायें चुरा लाई हैं उन्हें वापस ले जायेंगे। तुम लोगों को यदि अपनी जान बचाना है तो चुपचाप गायें छोड़ दो और यहाँ से भाग जाओ। इसी में तुम्हारा हित है।

सरमा के चरित्र के रूप में किसी भी प्रकार के प्रलोभन का शिकार न होने वाली व **"नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वं"** कहकर निर्भीक उत्तर देनेवाली जिस कर्तव्यदक्ष एवं निस्वार्थ मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, उसे कौन न स्पृहणीय मानेगा ? नीतितत्त्व और किस प्रकार का होता है ? यह यदि जंगलीपन है तो इससे विपरीत धारणा की सृष्टि चाहने वाले तथाकथित सुधारवाद को कोई भी दूर से ही नमस्कार करेगा। ऋग्वेद में जिस प्रकार नीति का कट्टरता से पुरस्कार किया गया है उसी प्रकार आख्यानसूक्तों के

द्वारा व स्वतन्त्र रीति से भी अनैतिक बातों एवं व्यसनों का आत्यंतिक धिक्कार किया गया है। आख्यानसूक्त के द्वारा तो वह अधिक परिणामकारक रीति से प्रगट किया गया है।

द्यूतसूक्त

द्यूतसूक्त में एक जुआरी ने अपनी दुर्दशा का जो चित्रण किया है वह इस दृष्टि से मननीय है। ऋग्वेद के दशम मंडल का यह चौतीसवाँ सूक्त देखिए—

प्रावेपाः मा बृहतः मादयन्ति प्र वातेऽजा इरिणे ववृतानाः।
सोमस्यऽऽइव मौजऽवनस्थ भक्षः विऽभीदकः जागृविः मह्यं अच्छान् ॥१॥
न मा मिमेथ न जिहीले एषा शिवा सखिऽभ्यः उत मह्यं आसीत्।
अक्षस्य अहं एकऽपरस्य हेतोः अनुऽव्रतां अप जायां अरोधम् ॥२॥
द्वेष्टि श्वश्रूः अप जाया रुणद्धि न नाथितः विन्दते मर्डितारं।
अश्वस्यऽइव जरतः वस्न्यस्य न अहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥
अन्ये जायां परिमृशन्ति अस्य अगृधत् वेदने वाजी अक्षः।
पिता माता भ्रातरः एनं आहुः न जानीमः नयत बद्धम् एनम् ॥४॥
यत आऽदीध्ये न दविषाणि एभिः परायत्ऽभ्यः अव हीये सखिभ्यः।
निऽउत्पाः च बभ्रवः वाचं अक्रत एमि इत् एषां निःऽकृतं जारिणीऽइव ॥५॥
सभां एति कितवः पृच्छमानः जेष्यामि इति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासः अस्यः वि तिरन्ति कामं प्रतिऽदीव्ने दधतः आकृतानि ॥६॥
अक्षासः इत् अंकुशिनः निऽतोदिनः निऽकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः।
कुमारऽदेष्णाः जयतः पुनःऽहनः मध्वा संऽपृक्ता कितवस्य वर्हणा ॥७॥
त्रिऽपञ्चासः क्रीलति व्रातः एषां देवःऽइव सविता सत्यऽधर्मा।
उग्रस्य चित् मन्यवे न नमन्ते राजा चित् एभ्यः नमः इति कृणोति ॥८॥
नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासः हस्तऽवन्तं सहन्ते।
दिव्याः अंगाराः इरिणे निऽउत्पाः शीताः संतः हृदयं निः दहन्ति ॥९॥
जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणऽवा बिभ्यत् धनं इच्छमानः अन्येषां अस्तं उप नक्तं एति ॥१०॥
स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप अन्येषां जायां सुऽकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सः अग्नेः अन्ते वृषलः पपाद ॥११॥
यः वः सेनाऽनीः महतः गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमः बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दश अहं प्राचीः तत् ऋतं वदामि ॥१२॥
अक्षैः मा दीव्यः कृषिं इत् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तत् मे विचष्टे सविता अयं अर्यः ॥१३॥

मित्रं कृणुध्वं खलु मृलत नः माः नः घोरेण चरत अभि धृष्णु ।
नि वः नु मन्युः विशतां अरातिः अन्यः बभ्रूणां प्रऽसितौ नु अस्तु ।।१४।।

१. वायु के झकोरों में पले हुए (झाड़ के) काष्ठ से बनाए गये तथा (चौसर के) पट पर इतस्ततः थर थर नाचने वाले ये पाँसे मुझे बेभान कर रहे हैं। यह स्वतः जागरूक रहने वाला पाँसा मौज पर्वत की सोमवल्ली के मधुर पेय के समान ही मुझे मत्त बनाये डाल रहा है।

२. मेरी स्त्री ने मुझे कभी भी नहीं दुत्कारा और न ही कभी वह मुझसे रुष्ट हुई। मुझसे एवं मेरे मित्रों से उसने अत्यंत विनम्रता का व्यवहार किया। इतने पर भी केवल एक जुए की लत में पड़कर मैंने अपनी आज्ञाकारिणी स्त्री को डाँट डपटकर दूर भगा दिया।

३. जुआरी की सास उसका तिरस्कार करती है। अंत में उसकी स्त्री भी उसका निषेध करने लगती है। उसकी अनेक विनतियों पर भी किसी को उस पर दया नहीं आती। (ऐसी मेरी स्थिति है।) ऊँची कीमत के किंतु बुढ्ढे घोड़े के समान मेरी स्थिति हो गई है। मुझे जुए से (पैसे न मिलने के कारण) चैन भी भोगने को नहीं मिलता।

४. यह बलाढ्य पाँसा जुए में जिस व्यक्ति का धन लूट लेता है, उसकी स्त्री पर भी ऐरे-गैरे लोग हाथ डालने में नहीं चूकते। उस व्यक्ति के माँ, बाप, स्त्री, बंधु-बांधव कहने लगते हैं कि यह हमारा कोई नहीं है; हम इसे नहीं जानते, तुम खुशी से इसको बाँधकर ले जा सकते हो।

५. जब मैं निश्चय करता हूँ कि इसके पश्चात् इन पाँसों से कभी नहीं खेलूंगा तब संगतिविहीन मेरे सारे मित्र एवं ये पाँसे मुझे धिक्कारने लगते हैं; परन्तु जहाँ एक बार उन मटमैले रंग के पांसों की खड़खड़ाहट शुरू हो जाती है कि फिर मैं किसी बदचलन स्त्री के संकेतस्थान की ओर भागने के समान ही जुए के अड्डे की ओर दौड़ पड़ता हूँ।

६. (जुए के लिए) आहूत होने पर उसके अंग में फुरफुरी आ जाती है और वह यह कहता हुआ कि अबकी बार अवश्य ही जीतूंगा, जुए के अड्डे पर जाता है और जहाँ उसने प्रतिस्पर्धी से शर्त बाँधी कि फिर वे पाँसे उसकी तृष्णा को बढ़ाने लगते हैं।

७. ये पाँसे अंकुशधारी, अरई लगाने वाले, चमड़ी कतरने वाले तथा स्वतः तपते हुए दूसरे को भी भून डालने वाले हैं। और यदि एकाध बार जुए में विजय प्राप्त हो भी गई तो भी उससे प्राप्त धन बच्चों के खिलौनों की कीमत का भी नहीं होता। इस प्रकार मानों उन्माद से भरे हुए ये पाँसे जुआरी को पहले फुलाकर अंत में उसका सर्वनाश कर देते हैं।

८. तीन-तीन, पचास-पचास के संच में पाँसों का खेल चलता है। (वह भी वास्तविकता के इस दिखावे के साथ) जैसे मानो सत्य स्वरूप सविता ही अवतरित हो गया हो। किसी भंयकर से भंयकर मनुष्य के आगे वह नत नहीं होता, बल्कि राजा ही इसके सामने नतमस्तक हो जाया करता है।

९. ये पाँसे पड़ते तो जमीन पर हैं परन्तु मँडराते सबके ऊपर हैं। इनके हाथ नहीं हैं परन्तु ये हाथ वाले पुरुषों को असहाय बना देते हैं। पट पर पड़ते समय ऐसे लगते हैं मानो दिव्य लोक के अंगारे ही हों। क्योंकि हाथों को वे भले ही ठंडे लगते हों परन्तु कलेजे को वे जला ही डालते हैं।

१०. जुआरी की स्त्री असहाय होकर तड़पती रहती है। उसकी माँ अपने पुत्र को यहाँ वहाँ भटकते देखकर तिलमिलाती है। वह स्वयं भी कर्जदार बनकर घबरा जाता है और पैसे के लिए दूसरों के द्वार पर दिनरात चक्कर काटता रहता है।

११. स्वयं की स्त्री को देखकर तो उसे संताप आता ही है परन्तु दूसरे की स्त्री को देखकर या अन्यों के सजे सजाये घरों को देखकर भी उसकी देह जल उठती है। पर करे क्या? प्रातःकाल धूल भरे घोड़ों को जोतकर वह अभागा (मजूरी के लिए) गाड़ी हाँका करे और (रात को) आग जलाकर उसके पास पड़ा रहे।

१२. जो तुम्हारे बलाढ्य संघ का सेनापति होगा अथवा तुम्हारे पथक का मुखिया होगा अथवा राजा होगा उसके सामने मैं दसों उँगलियों की अंजलि से हाथ जोड़कर सत्य सत्य कहता हूँ कि जुए से मैं धन न कमा सका।

१३. पाँसों से (जुआ) मत खेलो वरन् खेती करो और सम्पत्ति में रममाण हो। ऐसा करने से तुझे मान्यता प्राप्त होगी। वहाँ (खेतों में) तुझे गायें मिलेंगी; और स्त्री भी प्राप्त होगी जिससे तेरा संसार चलेगा। इस बात का भगवान् सूर्यनारायण ने मुझे अनुभव करा दिया है।

१४. मुझे अपना मित्र समझो। (हे पाँसो) सचमुच मुझ पर दया करो। अपने भयंकर वेग से मुझ पर आक्रमण न करो। (पाँसो!) तुम्हारा क्रोध शान्त हो; और अन्य कोई अधार्मिक दुष्ट तुम मटमैले पाँसों के जाल में फँसे।

जुआ, दारू, व्यभिचारादि व्यसनों व सब प्रकार की अनीतियों का आर्यजन पूर्णरूप से तिरस्कार करते थे और अनजाने भी मन के द्वारा होने वाला पतन उनके पापभीरू स्वभाव को सहन नहीं होता था। कितना भी बड़ा प्रलोभन सामने क्यों न हो, किन्तु सत्कर्म से विचलित न होने की उनकी मनः प्रवृत्ति थी। इस द्यूतसूक्त के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी प्रकार के आत्मनाशक अनीति के मार्ग पर न जाने की उनको कितनी चिंता लगी रहती थी।

विवाह संस्था

देवों से स्वप्न में भी पाप से दूर रखने की प्रार्थना करने वाले इन पाप-भीरू लोगों के बारे में श्री डांगे सरीखे बौद्धिक विकृति के रोग से ग्रस्त हुए लोग जब यह कहने लगते हैं कि उनमें नीति कल्पनाओं का उदय ही नहीं हुआ था और स्त्री पुरुषों के विवाहबंधन की तथा समाज की विकसितावस्था में नाते-रिश्ते के कारण उत्पन्न होने वाले नैतिक बंधनों की उन्हें कल्पना ही नहीं थी; वे लोग स्त्रीपुरुष का निसर्ग निर्मित एक ही नाता जानते थे; और इस प्रकार के कथन की पुष्टि में जब वे ऋग्वेद के सूक्तों का आधार लेने लगते हैं तब उनकी इस धृष्टता पर वास्तव में आश्चर्य होता है। श्री डांगे कहते हैं—

*"इस प्रकार के गणों में परस्पर भिन्न नातों तथा स्त्रीपुरुष संबंधों की जानकारी न होना स्वाभाविक ही था। परन्तु इस प्रकार का अनियन्त्रित संबंध संततिविकसन के लिए हानिकारक होने के कारण सर्वप्रथम माता पिता एवं उनके बालबच्चों के बीच संभोग पर नियन्त्रण उपस्थित किया गया और इस प्रकार कुटुंब व्यवस्था की नींव रखी गई। यहाँ विवाह की व्यवस्था कुटुंब के अनुसार होनी थी, अर्थात् समस्त दादा दादी परस्पर एक दूसरे के पतिपत्नी हो सकते थे। उसी प्रकार उनके लड़के-लड़कियाँ, अर्थात् समस्त माता पिता एक दूसरे के पतिपत्नी हो सकते थे। सगे व चचेरे भाई बहिन सब सुविधानुसार एक दूसरे के पतिपत्नी हो सकते थे।

"आगे चलकर भाई और बहिन के बीच निषेध उत्पन्न किया गया। परन्तु इस नवीन संबंध का विकास बहुत ही मन्दगति से हुआ और उसमें अड़चन भी बहुत हुई क्योंकि समान वय के स्त्रीपुरुषों के बीच यह एक अपरिचित संबंध था। एक ही माँ के पेट से उत्पन्न हुई सगी बहिन से प्रारंभ कर इस

---

*Such an organism knew no differentiated kins, entailing defined sex interdictions. But this promiscuity was found to be injurious to the growth of the progeny. Hence the first prohibition that was thought of and applied to, was to relations between parents and offsprings and brought into existence the consanguine family. Here the marriages are arranged by generations; all grandfathers and grandmothers are mutually husbands and wives; equally their children, the fathers and mothers; in this brother and sister, male and female cousins are mutually husbands and wives.

The second stage was the creation of a barrier between brothers and sisters. This progress was made much more difficult because of the greater equality of ages of the parties concerned. It was accomplished gradually beginning with the natural sister

संबंध का धीरे-धीरे विकास किया गया। परन्तु इसमें कितनी कठिनाई हुई होगी, इसकी कल्पना ऋग्वेद के यमयमीसूक्त से स्पष्ट हो जाती है। यम की बहिन यमी अपने भाई से प्रेम एवं संतति की याचना करती है, परन्तु यम यह कहते हुए उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है कि देवताओं के श्रेष्ठ पहरेदार वरुण देख लेंगे और क्रुद्ध हो जाएँगे। इसके विपरीत यमी कहती है कि वे इसके लिए अपना आशीर्वाद देंगे। इस संवाद का अंत कैसे हुआ सो ऋग्वेद में नहीं है परन्तु यदि यह मान भी लिया जाए कि अंत में यम ने वह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया तो भी यह स्पष्ट है कि प्राचीन परिपाटी को तोड़ने में कितनी कठिनाई का अनुभव हुआ होगा।"

श्री डांगे ने अपने ग्रंथ, 'ओरिजन आफ़ मैरिज' (Origin of Marriage) में एंजल्स के सूत्रों के आधार पर वैदिकों के इतिहास को मरोड़ने का जो प्रयास किया है, वह अनुचित है। हम नहीं मानते कि एंजल्स (Engels) का परिवार की उत्पत्ति (Origin of Family) का प्रतिपादन ठीक है। परन्तु '**तुष्यतु दुर्जनः**' न्याय के अनुसार यदि उसे सच भी मान लिया जाए तो भी ऋग्वेद में उसका प्रतिबिंब मानने का कोई कारण नहीं दिखता। श्री डांगे जिस वस्तुस्थिति का चित्रण करते हैं वह मानव समाज में किसी काल में रही होगी—उसका वर्णन मानव जाति के विकसन का इतिहास वर्णित करते समय पुराणों में भी प्राप्त होता है—परन्तु अब तक के उल्लिखित ऋग्वेद के ही प्रमाणों से यह सहज ही सिद्ध है कि ऋग्वेदकालीन समाज का चित्र मानव समाज की अविकसित जंगली अवस्था का नहीं, अपितु एक विकसित एवं सिद्ध जीवन की कल्पना से युक्त राष्ट्र का चित्र है। दुंदुभि बजाकर राज्य का विस्तार करने की इच्छा रखने वाले ऋग्वेदीय लोग विकसित समाज के घटक थे, यह बिना बताये भी समझ में आ सकता है। ऐसी स्थिति में उनका साहित्य बारीकी से देखने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि डांगे ने अकारण ही उनका विकृत अर्थ में मंडन किया है। बृहद्देवता के समान इस यमयमी प्रकरण की पार्श्वभूमि इस प्रकार की है। त्वष्टा के दो अपत्य हुए—एक त्रिशिरस नाम का लड़का और दूसरी सरणि नाम की लड़की। सरणि के वयस्क होने पर उसका विवाह विवस्वान् से हो गया। आगे चलकर उसके यम और यमी नाम के दो यमज हुए। वे दोनों यमज भाई बहिन

---

on the mothers side. How difficult it was can be seen from the fact that late in the Rigveda, Yami, the sister of Yama, asks for his love and progeny on her; but he refuses saying that the great watchman of gods, Varuna, would see and be angry. Yami argues on the contrary that the gods would approve of it. The end of this drama in the Rigveda is lost but even if conclusion is presumed that Yama ultimately refused, it points to the difficulty with which the earlier custom was fought out.

साथ-साथ ही पले और बड़े हुए। उनका आपस में निरतिशय प्रेम था। यम बड़ा भाई था और यमी छोटी बहिन थी। ऋग्वेद का कथन है **"पुलुकामो हि मर्त्यः"** अर्थात् मनुष्य वासनाओं का पुंज है व एक बार वासना के भँवर में फँसने के पश्चात् उसका कहाँ तक अधःपतन होगा यह कहा नहीं जा सकता। आज भी हमें समाज में इस बात का भरपूर अनुभव प्राप्त होता है। यमी जवान हुई व उसके मन में पुरुष सुखेच्छा उत्पन्न हुई। आगे जब वह इच्छा अनिवार हो उठी, तब उसने एक दिन अपने भाई को एकान्त में ले जाकर उससे अपनी रति सुखेच्छा पूर्ण करने की प्रार्थना की। उस समय बहिन भाई में जो संवाद हुआ वह यमयमी सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। वासना का उद्रेक होने पर मनुष्य का अधःपतन किस अवस्था तक हो सकता है इसका चित्रण यमी के रूप में इस सूक्त में हुआ है। साथ ही यम के चित्रण से यह दिखाया गया है कि संयमी और दृढ़निश्चयी पुरुष किस प्रकार मोह से अलिप्त रहकर अपने चारित्र्य को शुद्ध रखता है। दृढ़निश्चयी पुरुष के लिए संसार की वासनामयता पर विजय प्राप्त करना किस प्रकार संभव है इसका इस सूक्त के द्वारा उत्कृष्ट रीति से उद्बोधन किया गया है और गीता में बताया हुआ—

उद्धरेदात्मनात्मानम् आत्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(हम स्वयं ही अपना उद्धार भी कर सकते हैं और अधःपतन भी। वास्तव में हम ही अपने बंधु हैं और हम ही अपने शत्रु।) का सिद्धान्त यहाँ भी दिग्दर्शित किया गया है। हम यहाँ यमयमी सूक्त को उद्धृत करते हैं जिससे यह कल्पना स्पष्ट हो जाए। वह सूक्त निम्नानुसार है :—

ओ (इति) चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरुचित् अर्णवं जजन्वान्।
पितुः नपातं आ दधीत वेधाः अधि क्षमि प्रऽतरमे दीध्यानः॥१॥

न ते सखा सख्यम् वष्टि एतत् सऽलक्ष्मा यत् विषुऽरूपा भवाति।
महः पुत्रासः असुरस्य वीराः दिवः धर्तारः उर्विया परिख्यन्॥२॥

उषन्ति घ ते अमृतासः एतत् एकस्य चित् त्यजसम् मर्त्यस्य।
नि ते मनः मनसि धायि अस्मे (इति) जन्युः पतिः तन्वम् आ विविश्यः॥३॥

न यत् पुरा चक्रम कत् ह नूनम् ऋताः वदन्तः अनृतम् रपेय।
गन्धर्वः अप्ऽसु अप्या च योषा सः नः नाभिः परमम् जामि तत् नौ॥४॥

गर्भे नु नौ जनिता (दम्पती इति) दंऽपती कः देवः
त्वष्टा सविता विश्वऽरूपः।
नकिः अस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नौ अस्य पृथिवी उत द्यौः॥५॥

कः अस्य वेद प्रथमस्य अह्नः कः ईं ददर्श कः इह प्र वोचत्।
बृहत् मित्रस्य वरुणस्य धाम कत् ऊं (इति) ब्रवः आहनः वीच्या नॄन्॥६॥

यमस्य मा यम्यम् कामः आ अगन् समाने योनौ सहऽशेय्याय ।
जायाऽइव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विः चित्वृहेव रथ्याऽइव चक्रा ॥७॥

न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति एते देवानां स्पशः इह ये चरन्ति ।
अन्येन मत् आहनः याहि तूयं तेन वि वृह रथ्याऽइव चक्रा ॥८॥

रात्रीभिः अस्मै अहऽभिः दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुः मुहुः उत मिमीयात् दिवा ।
पृथिव्याः मिथुना (सबन्धू इति) सऽबन्धू यमी यमस्य
बिभृयात् अजामि ॥९॥

आ घ ता गच्छान् उत्ऽतरा युगानि यत्र जामयः कृणवन् अजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुं अन्यं इच्छस्व सुऽभगे पतिं मत् ॥१०॥

किं भ्राता असत् यत् अनाथम् भवाति किं ऊं (इति) स्वसा यत् निःऽऋतिः
निऽगच्छात् ।
कामऽमूता बहु एतत् रपामि तन्वा मे तन्वं सम् पिपृग्धि ॥११॥

न वै ऊं (इति) ते तन्वा तन्वम् संपपृच्यां पापम् आहुः यः स्वसारम्
निगच्छात् ।
अन्येन मत् प्रमुऽदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुऽभगे वष्टि एतत् ॥१२॥

बतः बत असि यम न एव ते मनः हृदयं च अविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्याऽइव युक्तं परि स्वजाते लिबुजाऽइव वृक्षम् ॥१३॥

अन्यं ऊं (इति) सु त्वं यमि अन्यः ऊं (इति) त्वां परि स्वजाते लिबुजाऽइव
वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मनः इच्छ सः वा तव अध कृणुष्व संऽविदम् सुऽभद्राम् ॥१४॥

—ऋग्वेद १०-१०-१ से १४ तक

१. **यमी** : मैं अपने प्रिय सखा को प्रेम से अवश्य ही खींचकर लाऊँगी। वह यदि इस असीम (प्रेम के) समुद्र के पार जाने की तैयारी में भी हो तो भी जगत् के व्यवहार की ओर सूक्ष्म दृष्टि रखने वाला ईश्वर उसे पुत्र देकर पिता बना दे।

२. **यम** : मैं तेरा प्रिय मित्र हूँ। परन्तु मैं इस प्रकार की मैत्री नहीं चाहता जिसके कारण मेरा मूल का बन्धुत्व का नाता समाप्त हो कर कोई दूसरा नाता अर्थात् पति का जुड़ जाए। यदि तू पुत्रों के बारे में कहती है तो परमात्मा के वीर्यशाली पुत्र (देवता), जो इस द्युलोक को धारण करते हैं, जहाँ तहाँ दृष्टिगोचर हो ही रहे हैं।

३. **यमी** : वे अमर देव यही चाहते हैं कि एकाकी मनुष्य की कोई न कोई सहचरी अवश्य होवे। तेरा मन भी मुझमें रमा ही है अतएव तू पुत्रोत्पादक पति बनकर मुझमें प्रवेश कर।

४. **यम** : देखो, जो बात हमने कभी नहीं की वह अब क्यों करें ? आज तक सत्य धर्म की लंबी-चौड़ो बातें कहते कहते अब अनीति की बड़वड़ करना कहाँ तक उचित है ? आकाशोदक में रहने वाला गंधर्व हमारा पिता है तथा दिव्य उदक रूप स्त्री हमारी जननी है। यह अपना उच्च कोटि का नाता ध्यान में रख।

५. **यमी** : सचमुच में हम दोनों के गर्भ में रहते समय ही जगत्पिता ब्रह्मदेव ने हमें पति पत्नी बना दिया है। फिर उन देवताओं की आज्ञा क्यों भंग की जाए ? हम पति-पत्नी हैं, यह आकाश एवं पृथ्वी को भी ज्ञात है।

६. **यम** : बिल्कुल पहले दिन का भला किसे ज्ञान है ? यह बात किसने देखी है ? और हमने देखी है ऐसा कह भी कौन रहा है ? मित्र और वरुण का तेजोभुवन कितना महनीय है ? तब फिर तरुण पुरुषों को अपने मोहजाल से हैरान करने वाली स्त्री ! यह तूने क्या बड़-वड़ मचा रखी है ?

७. **यमी** : यम के पास एक ही स्थान पर, एक ही शय्या पर शयन करने की मुझ यमी को प्रबल वासना हुई है ; इस कारण पति के सामने जानेवाली पत्नी के समान मैं अपनी काया तेरे सामने उघारती हूँ। रथ के चक्के के समान हम एक दूसरे की ओर झपटें।

८. **यम** : छिः ! छिः ! देखो ! यहाँ जो देवताओं के दूत घूम रहे हैं वे एक स्थान पर ही नहीं रहते और न ही वे सोते हैं। अतएव ए कामुक स्त्री ! तू तुरंत ही मुझे छोड़कर अन्य किसी के पास जा और रथ के चक्के के समान दौड़ते हुए उससे जाकर मिल।

९. **यमी** : रात रात और दिन दिन भर हम एकत्र रह सकें इस निमित्त क्या कोई इसे मेरे वश में करेगा ? क्या सूर्य का नेत्र बार बार खुलकर देखेगा ? देखो ! आकाश व पृथ्वी भाई बहिन होने पर भी पति पत्नी बन गये हैं। वैसे ही यह यमी भी यम का पत्नीपद धारण कर सके।

१०. **यम** : वह काल आगे आने ही वाला है जब भाई वहिन भी पति पत्नी होंगे परन्तु इस समय तो कम से कम तू अपने बाहुओं का हार किसी अन्य वीर्यशाली प्रियकर को अर्पण कर। हे भाग्यशालिनी, मेरे सिवाय किसी अन्य पति की इच्छा कर।

११. **यमी** : जिसके कारण बहिन अनाथ हो जाए वह भाई किस काम का ? और इस रीति से जो अधोगति को प्राप्त होती है वह बहिन भी किस काम की। मैं कामविह्वल होने के कारणइस प्रकार बहुत

वहकने लगी हूँ । अतएव अपने शरीर से मेरे शरीर का आलिगन कर ही डाल ।

१२. **यम :** चल निकल यहाँ से । मैं तेरे शरीर से अपना शरीर कदापि नहीं लगने दूंगा । इस प्रकार जो अपनी बहिन के पास जाता है वह अधमाधम कहलाता है । हे सुभगे, मुझे छोड़कर अन्य किसी पुरुष से आनंद प्राप्त कर ले । मैं तेरा भाई तुझसे इस बात की किंचित् भी इच्छा नहीं करता ।

१३. **यमी :** हाय ! हाय ! तू वास्तव में यम अर्थात् कठोर है । तेरा मन अर्थात् हृदय इतना कठोर होगा यह मुझे ज्ञात नहीं था । पर अब क्या ? गले के आसपास जिस प्रकार माला होती है अथवा वृक्ष के चारों ओर लता होती है उस प्रकार कोई दूसरी स्त्री तुझे आलिंगन दे ।

१४. **यम :** हे यमी ! तू भी अब किसी दूसरे को मन से वरण कर, जिससे वह भी तुझसे उसी प्रकार लिपटे जिस प्रकार वृक्ष से लता लिपटती है । उसका मन तू हर ले । वह भी तेरा मन हर लेगा । इस प्रकार उस पति के साथ ही तू सुखानंदपूर्वक विलास कर । इसमें ही तेरा कल्याण है ।

इस यमयमी सूक्त का ही यदि योग्य रीति से निरीक्षण करें तो उसके **'जायाऽइव पत्यै तन्वं रिरिच्या'** इस स्पष्ट उल्लेख के आधार पर यह साफ दिखाई देता है कि ऋग्वेद काल में परिणत स्वरूप की विवाह संस्था थी । अन्यथा इस प्रकार की उपमा का आना संभव ही नहीं था । इसी उपमा से यह भी सिद्ध होता है कि यमी को इसकी पूर्ण कल्पना थी कि पति-पत्नी के बारे में जो सहज व्यवहार्य व धर्म्य है वह अपने संबंध में संकेतानुसार अधर्म्य व अनीतिकारक है । जैसा डांगे कहते हैं वैसी यदि परिस्थिति होती तो इस उपमा के स्थान पर केवल स्त्रीपुरुष शब्द का ही प्रयोग किया गया होता व यम के बोलने में रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध नवीन धर्मप्रचार के आवेश के चिह्न, सूक्ष्मरूप में ही क्यों न हों, अवश्य दिखाई देते । परन्तु वैसा बिल्कुल भी दिखाई नहीं देता । यह संघर्ष सूक्त में नहीं अपितु उनके उस मन में है जिसने समाज में स्त्रीपुरुष का केवल एक ही संबंध मानने वाले भौतिकवाद के प्रचार का कंकण बांधा है । इस सूक्त में **"पापमाहुः यः स्वसारं निगच्छात्"** (बहिन से संबंध रखने वाला पाप की खान है) इन असंदिग्ध शब्दों के आधार पर यह स्पष्ट है कि बहिन भाई आदि का नाता तथा दैहिक संबंध आदि धर्म व नीति पर आधारित थे । इसी सूक्त के **'विपुरुषा, सलक्ष्मा'** सरीखे स्पष्ट शब्दों से यह दिखाई देता है कि विवाह के संबंध में सगोत्र संबंधी नियम अस्तित्व में थे । जिस उच्च स्तर के स्त्रीपुरुष संबंध के कारण भारत की कीर्ति-दुंदुभि समस्त

जगत् में बज उठी, उसमें निहित संयमशील शुचिर्भूतता एवं कड़ा नियंत्रण उस समय तक अस्तित्व में आकर दृढ़मूल हो गया था, अन्यथा इतने सहज रूप में उसका उल्लेख न आया होता। आठवीं ऋचा में उल्लिखित है—"**न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।**" अर्थात् देवताओं के दूत, जो यहाँ संचार कर रहे हैं, कहीं भी नहीं रुकते व अपनी आँखें नहीं मूंदते अर्थात् दुर्लक्ष नहीं करते। आर्य सुधारणा की ऋग्वेदकालीन परिणति कितनी श्रेष्ठ थी यह इस उल्लेख से स्पष्ट होता है एवं मन आश्चर्यचकित हो जाता है। समस्त परिणत समाजशास्त्रज्ञों की यह अपेक्षा रहती है कि समाज से पशुत्व पूर्णरूप से नष्ट हो जाए एवं समाज के सब व्यक्तियों का व्यवहार इतना श्रेष्ठ हो कि कर्तव्य के लिए कर्तव्य, चारित्र्य के लिए चारित्र्य तथा पावित्र्य के लिए पावित्र्य का सिद्धान्त अत्यंत स्वाभाविक रीति से उनमें प्रगट हो। परन्तु इस संबंध में ऋग्वेद के बताये अनुसार अंत में "**पुलुकामो हि मर्त्यः**" (मनुष्य वासनाओं का पुतला है) की बात ही अनुभव में आती है और मनुष्यों में पशुप्रवृत्तियाँ सिर उठाती हैं। क्योंकि पशुप्रवृत्ति स्वभाव है और संयमशीलता प्रयत्न से उत्पन्न करनी पड़ती है, इस कारण सामाजिक जीवन को दोषरहित रखने के लिए समाज में नियंत्रण एवं विधि-नियम उत्पन्न कर, दंड की धाक से समाज को व्यवस्थित रखने का प्रयत्न होता है। परन्तु समाजनिरीक्षकों का अनुभव है कि ज्यों ज्यों नियमादि बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों अपराध करने की कला भी बढ़ती जाती है। इसे रोकने का एकमेव उपाय है मन की वह पवित्रता निर्माण करना जिससे अपराध करने की प्रवृत्ति के प्रति ही स्वभावतः घृणा उत्पन्न हो जाए और बाह्य दंड की आवश्यकता ही न रहे। समाज का विकसन इसी दिशा में किया जाना आवश्यक है। परन्तु सर्वसामान्य जीवन में ये बातें कैसे लाई जाएँ ? भारतीय द्रष्टाओं ने इसके लिए श्रद्धा एवं ईश्वरनिष्ठा का विलक्षण उपाय उत्पन्न कर यह स्थिति सामान्य जीवन में भी संभव कर दिखाई है। जल में, थल में, काष्ठ में, पाषाण में एक ही सर्वसाक्षी परमेश्वर भिन्न-भिन्न रूपों में अवस्थित होकर हमारे प्रत्येक कृत्य की ओर अत्यंत जागरूकता से देख रहा है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। पिता की दक्षता, गुरु का मार्गदर्शन, माँ की वत्सलता एवं प्रभुसत्ता का अपार सामर्थ्य उसमें आकर केन्द्रित हुए हैं। यह सश्रद्ध हिंदू अंतःकरण की तीव्र भावना अंधेरे एकान्त में भी उसे सब प्रकार के पापों एवं क्षुद्रताओं से मुक्त रखकर चारित्र्य संपन्न जीवन बिताना उसका स्वभाव बना देती है। दिन में एकान्त में या रात्रि के घनान्धकार में कहीं भी कोई कृत्य किया जाए तो उस स्थल काल के अभिमानी देवता के रूप में मनुष्य जीवन के कल्याणार्थ बद्धपरिकर परमपिता परमेश्वर उस मनुष्य के समस्त कृत्यों को अत्यन्त जागरूकता से देखता है, यह भावना मनुष्य को जिस प्रकार सर्वतोपरि शुद्ध रख

सकती है उस प्रकार जगत् की अन्य कोई भी दंडशक्ति या कानून की पुस्तक नहीं रख सकती । तभी तो महाभारतकार ने कहा है—

"अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ।"

अर्थात्, दिवस, रात्रि व दोनों समय की संध्याओं के अभिमानी देवता तथा धर्म याने मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के पीछे विद्यमान अदृश्य आधिदैविक देवता मनुष्य के प्रत्येक कृत्य को परखकर उसके साक्षीदार बनते हैं । श्रीमद्-भागवत में एक प्रसंग है कि संध्याकाल में ठीक संध्यावंदन के समय कश्यप ऋषि की पत्नी दिति कामोद्रेक से पीड़ित होकर उन्हें कुकर्म करने के लिए प्रेरित करने लगती है । उस समय वे उसे उत्तर देते हैं : **"देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते"** अर्थात् तेरे देवर भगवान शंकर अपने तीनों नेत्रों से प्रत्येक मानवी कृत्य का निरीक्षण करते हुए संचार कर रहे हैं, यह बात अच्छी तरह ध्यान में रख । भारतीय संस्कृति की परिणतावस्था की यही श्रेष्ठ धारणा ऋग्वेद-कालीन आर्यों के जीवन का भी नियन्त्रण करती थी यह बात **'न तिष्ठन्त न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति'** से स्पष्ट हो जाती है । जिस समाज जीवन में मनुष्य जीवन को निर्मल करने वाले इन श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्यों का प्रादुर्भाव हुआ, उस समाज जीवन का चित्रण इस सूक्त में स्पष्ट रूप से किया हुआ होने के पश्चात् भी डांगे सरीखे साम्यवादी चश्मा लगाये हुए लोगों को वह दिखाई नहीं देता, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है । या आश्चर्य काहे का ? सच तो यह है कि वोदका पीकर तर्र हुई उनकी बुद्धि को वह ग्राह्य हो ही नहीं सकता ।

प्रत्यक्ष यमयमी सूक्त से क्या सिद्ध होता है यह हमने देखा । परन्तु ऋग्वेद में इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाण हैं जो विवाहसंस्था का अस्तित्व सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्ष द्यूतसूक्त में आए हुए श्वश्रू, जाया, पिता, माता, भ्रातर् आदि स्पष्ट शब्द तथा अपनी दैन्यावस्था का करुणाजनक वर्णन करते समय द्यूतकार द्वारा कहे गये **"अन्ये जायां परिमृशन्ति"** ये उद्गार यही सिद्ध करते हैं कि भारतीय संस्कृति के कौटुंबिक एवं सामाजिक नीतिमूल्यों एवं भारतीय संस्कृति की परिणतावस्था की स्त्रीपुरुष संबंधी कल्पनाओं एवं सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव ऋग्वेद काल के शतावधि वर्षों पूर्व ही हो चुका था व ऋग्वेदीय जीवन इन्हीं सिद्ध धारणाओं के वातावरण में कालातिक्रमण कर रहा था । ऋग्वेद के विवाह सूक्त मननीय हैं । पतिपत्नी संबंध, एक घर से दूसरे घर में जाना, मातृत्व में स्त्री जीवन की परिणति होना आदि कल्पनाओं के साथ ही प्रत्यक्ष पाणिग्रहण विधि तथा आर्य विवाहसंस्था के श्रेष्ठतम सिद्धान्त कि विवाह केवल शरीर के सुख के लिए नहीं अपितु गार्हस्थ्य के लिए है व योग्यकाल में उससे निवृत्त होकर जीवन के श्रेष्ठ ध्येय को हस्तगत करने के

लिए वैराग्य धारण करने व उस समय पति को भी कामगन्धविहीन वात्सल्य से सम्हालने में ही स्त्रीजीवन का वास्तविक साफल्य है आदि बातों का ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित कुछ मंत्रों की ओर ध्यान दें। नवपरिणीत दंपति को आशीर्वाद देते समय ऋग्वेद कहता है (मंडल १० सूक्त ८५)—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधाजिव्री विदथमावदाथः ॥२७॥

"हे वधु ! तुझे संतति प्राप्त होकर तेरा प्रिय होवे। सदैव जागरूक रह कर गार्हपत्याग्नि का संरक्षण करना तेरा कर्तव्य है। इस पति के साथ तू शरीर से एक हो। तुम दोनों वृद्धावस्था में भी घर में परस्पर मिलकर रहो व प्रेम से व्यवहार करो।"

वधु-वर की बारात देखने के लिए आजकल जिस प्रकार लोग एकत्रित होते हैं उसी प्रकार उस काल में भी होते थे। ऐसा ही एक प्रेक्षक अपने साथ वाले लोगों से कहता है—

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्मै दत्वायाथास्तं वि परेतन ॥३३॥

"इस सुमंगला वधु को आकर देखो व उसे सौभाग्य का आशीर्वाद देते हुए अपने-अपने घर जाओ।"

पाणिग्रहण करते समय पति के मुँह से ऋग्वेद ने जो उद्‌गार कहलवाये हैं उनसे ऋग्वेदीय जीवन की वैवाहिक कल्पना की उदात्तता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

"गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥३६॥

"तेरे सौभाग्य के लिए मैं तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। मुझ पति के साथ तू वृद्धावस्था तक रह। मुझे गार्हपत्य प्राप्त होवे इस कारण भग, अर्यमा, सविता व पुरन्धि (उषा) देवताओं ने तुझे मेरे अधीन किया है।"

नवपरिणीत दम्पति के गृहप्रवेश के पश्चात् उनका स्वागत इन शब्दों में किया जाता है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः मोदमानौ स्वे गृहे ॥४२॥

"तुम दोनों यहाँ रहो। तुम्हारा वियोग न होवे। तुम लोग दीर्घायु प्राप्त करो व पुत्रपौत्रों सहित अपने घर में आनन्द से क्रीड़ा करो।"

वधु को दिया जाने वाला आशीर्वाद देखिए—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ।।

(ऋ० १०-८५-४५)

"हे इन्द्र तू इसे पुत्रवती व भाग्यवती बना । इसे ऐसी भावना दे कि दस पुत्र हो जाने पर यह अपने पति को ही ग्यारहवाँ पुत्र मान ले ।"

आदर्श गृहजीवन कैसा होना चाहिए इसका अथर्ववेद का वर्णन विचार करने योग्य है । इस वर्णन जैसी उदात्त कल्पना व कौटुंबिक जीवन का इससे अधिक हृदयंगम वर्णन जगत् के अन्य किसी साहित्य में प्राप्त नहीं हो सकता। अथर्ववेद के तीसरे कांड के तीसवें सूक्त की पहली ऋचा ही इस दृष्टि से देखने योग्य है । वह इस प्रकार है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।२।।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।१।।

"पुत्र पिता के अनुव्रत (अनुकूल) व माता से समानमनस्क रहे । भार्या पति से मधुर व सुखदायक वाणी बोले ।।२।।

भाई से भाई द्वेष न करे व बहिन से बहिन न झगड़े । वे सब आपस में समानमन व समानव्रत होकर मीठा (भद्र) बोलें ।।३।।

मैं तुम्हें अविद्वेषी, समानचित्तवृत्ति व प्रीति से युक्त बनाता हूँ । गाय जिस प्रकार अपने वत्स से प्रेम करती है उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे से प्रेम करते रहो ।।१।।"

इस वर्णन से स्पष्ट दिखाई देता है कि आर्यों की विवाहसंस्था ऋग्वेदकाल में ही परिणतावस्था प्राप्त कर चुकी थी तथा आज की विवाहसंस्था उसी का आविष्कार है । अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की श्रेष्ठ विवाहसंस्था से युक्त लोगों के जीवन का विचार करते समय उनके साहित्य के संबंध में सिद्धान्त का निर्धारण करने के लिए प्रांजल दृष्टि का ही अंगीकार करना चाहिए ।

कामरेड डांगे की हास्यास्पद उपपत्तियों के संबंध में 'मियाँ की जूती मियाँ के सिर पर' वाली कहावत चरितार्थ होगी इसमें संदेह नहीं । मार्क्स की इतिहास प्रक्रिया के साँचे में सारे इतिहास को ढालने का निश्चय लेकर वे ग्रंथ

लेखन के लिए बद्धपरिकर हुए। इसके लिए असत्य प्रमाण तैयार करना, जो बातें न हों उन्हें बलात् ठूँसना, शब्दों की तोड़-मरोड़ करना, संदर्भहीन उद्धरण देकर भरपूर प्रमाण दिये जाने का आभास उत्पन्न करना, 'मैं कहूँ सो सच' इस रूप में जोरदार विधान करना आदि समस्त प्रकार के साम्यवाद द्वारा पुरस्कृत वाममार्गों का अवलम्बन कर उन्होंने अपने ग्रंथ* में लिखा है। परन्तु भारतीय इतिहास ही इतना तेजस्वी है तथा मार्क्स की इतिहास प्रक्रिया भी इतनी एकान्तिक, मानवी भावनाओं का अपमान करने वाली एवं मिथ्या है कि कामरेड डांगे का यह प्रयत्न पूर्णरूप से असफल हो गया है। अपने महाभारत एवं श्रीकृष्ण संबंधी पूर्वग्रंथों में मैंने उनके समस्त मतों का उत्तर देकर उनकी विकृत एवं 'मेरी मुर्गी की एक टांग वाली' प्रवृत्ति का विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन कराया है। केवल उनके वेदों से संबद्ध असत्य एवं अनर्गल प्रलापों का, प्रतिपाद्य विषय की भिन्नता के कारण, उस स्थान पर उत्तर देना मुझे उचित नहीं लगा। इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ में, जो वेदों से ही संबंधित है, मैंने यह विवेचन कर अपना वह कार्य पूरा किया है। इस संबंध में डांगे पूर्णरूप से गलत सिद्ध हुए हैं। लेनिन व स्टालिन की आत्माएँ यदि स्वर्ग में होंगी (स्वराष्ट्रोद्धारक होने के कारण वे स्वर्ग में ही गये होंगे इसमें मुझे संदेह नहीं है, परन्तु डांगे तो स्वर्ग मानते ही नहीं।) तो वहाँ से अपने इस एकनिष्ठ अनुयायी के कीलोत्पाटी प्रयत्न को देखकर Save me from my friends कहे बिना न रहेंगी। आजकल रशियन भाषा में भारतीय साहित्य के अनुवाद का प्रयत्न चला है। उससे रशियन तत्वज्ञों को भारतीय साहित्य के बारे में योग्य कल्पना प्राप्त हो सकेगी और तब फिर उनके ध्यान में यह आये बिना न रहेगा कि उनके प्रचारक ने व्यर्थ ही भारतीय इतिहास के हिमालय से टक्कर लेकर अपनी ही इतिहास प्रक्रिया की धज्जियाँ उड़वा दी हैं।

श्री डांगे कोई वेद व संस्कृत साहित्य के तज्ञ तो हैं नहीं, फिर भी मैं उन्हें इतना महत्व क्यों देता हूँ अथवा अब तक देता रहा हूँ, ऐसा प्रश्न मेरे कई मित्र तथा मेरी व्याख्यानमाला के विचक्षण श्रोतागण बारम्बार पूछते हैं। परन्तु डांगे तज्ञ हैं इस कारण मैंने यह सब नहीं किया है। भारत के एक संगठित राजनैतिक पक्ष के वे नेता हैं। उस पक्ष के अध्ययनमंडलों के द्वारा उनकी इस पुस्तक का तथा उसमें निहित सिद्धान्तों का पद्धतियुक्त अभ्यास व प्रचार होता है। और जब ऐसे प्रचारकों से उन लोगों का पाला पड़ता है जो भारतीय संस्कृति व राष्ट्रवाद के अभिमानी तो हैं परन्तु जिन्हें भारतीय साहित्य का किंचित् भी ज्ञान नहीं है तब वे बड़े संभ्रम में पड़ जाते हैं। भारत के विभिन्न स्थानों के दौरों में मुझे इसका सदा अनुभव आता है। इस कारण साम्यवादियों का **'जितं मया'** का नारा वास्तव में कितना फुसफुसा है, यह

*India From Primitive Communism to Slavery

दर्शाना आवश्यक हो जाता है। बुद्धिपुरस्सर किये गये उनके इस आक्रमण की विष-दग्धता को देखते हुए उसकी ओर दुर्लक्ष करना अनुचित व विघातक होता। इसीलिए मैंने उनके आक्रमण व प्रतिपादन के लचर, मिथ्या, दुष्ट एवं विकृत स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है।

यमयमी सूक्त में यम के दृढ़निश्चयी व शीलसम्पन्न चरित्र को देखकर स्वर्गीय उर्वशी से 'न' कहने वाले तथा अपने शील-सौंदर्य से स्वर्ग को भी उद्भासित करने वाले महाभारत के धनुर्धर अर्जुन की याद बरबस आ जाती है। आज भी हम भाईदूज के रूप में यम के उस पावित्र्य एवं उसके अपनी बहिन के साथ किये गये व्यवहार में दिग्दर्शित होने वाले बहिन-भाई के सुमधुर संबंध का स्मरण करते हैं। वैदिक जीवन का नैतिक स्वरूप इस प्रकार का है।

वैदिकों के तेजस्वी जीवनवाद एवं उनकी नैतिक धारणा का विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे रसिक, संयमी, सौंदर्य का आस्वाद लेने वाले किन्तु स्वाधीनतापूर्वक समस्त उपभोग प्रवृत्तियों को अपने नियन्त्रण में रखने वाले, शूर, शीलसम्पन्न, विजिगीषु, नीतिसम्पन्न, ईश्वरभक्त, किसी के समक्ष भी न झुकने वाले किन्तु स्वप्न में भी पावित्र्य की आस न छोड़ने वाले, श्रेष्ठ व अन्तःकरण से ही पाप की घृणा करने वाले सदाचार सम्पन्न लोग थे। भारतीय संस्कृति में बुद्ध व जैनों के द्वारा उत्पन्न विकृति के पश्चात् समाज जीवन में दो अतिरेकी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई और वे आज भी उसी प्रकार अस्तित्व में हैं। उनमें से एक है भोगप्रधान पशुप्रवृत्ति जिसकी वासनाओं को कुछ भी अविषय नहीं है व वैयक्तिक भय के अतिरिक्त और कोई नियन्त्रण जिसे मान्य नहीं तथा दूसरी प्रवृत्ति है जीवन को एक संकट मानकर उसे जैसे-तैसे कष्ट सहित बिताने की तथा समस्त जगत् की ओर निराशावादी दृष्टिकोण से देखते हुए जगत् के समस्त सरस सौंदर्य का तिरस्कार करते रहने की। ये दोनों एकान्तिक विकृतियाँ हैं। भारतीयों का सांस्कृतिक आदर्श इहलौकिक एवं पारलौकिक, आध्यात्मिक एवं बाह्य समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों का समाधान कर स्वाधीनता से जगत् का व्यापार करते हुए अपने स्वतः को **"पद्मपत्रमिवाम्भसा"** बनाये रखना है। वैराग्य एवं सौंदर्यवाद, नीति एवं उपभोग इन दोनों के आदर्श भारतीय जीवन में उत्कृष्टता से सम्मिलित हुए हैं। आर्यों के जीवनवाद एवं उनकी नैतिक धारणा का यहाँ जो विशदीकरण किया गया है उससे हम यह देखते हैं कि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में प्रजा के जीवन का जो हृदयंगम वर्णन किया है वह ज्यों का त्यों वैदिक जीवन के लिए भी लागू होता है। रामायण का वह वर्णन इस प्रकार है—

तस्मिन्पुरवरे दृष्टाः धर्मात्मानो बहुश्रुताः ।
नरास्तुष्टाः धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः ।।६।।

नाल्पसन्निचयः कश्चिदासीत्तस्मिन्पुरोत्तमे ।
कुटुम्बीयो ह्यसिद्धार्थो गवाश्वधनधान्यवान् ।।७।।

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः ।।८।।

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामालाः ।।९।।

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान् ।
नामृष्टो नालिप्तांगों नासुगंधश्च विद्यते ।।१०।।

नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनंगदनिष्कधृक् ।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान् ।।११।।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः ।।१२।।

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ।।१३।।

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको नचाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित् ।।१४।।

नाषडंगविदत्रास्ति नाव्रतो नाबहुश्रुतः ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ।।१५।।

कश्चिन्नरो न नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ।।१६।।

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ।।१७।।

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ।।१८।।

—वा० रामायण, बालकाण्ड स० ६

"उस नगरी में आनंदी, धर्मात्मा, बहुश्रुत, अपने धन पर संतुष्ट रहने वाले, दूसरे के धन का अन्तःकरण में यत्किंचित् भी लोभ न रखने वाले सत्यवादी लोग रहते थे। जिसका धनसंग्रह अल्प हो अथवा जिसकी आकांक्षाएँ पूरी न हुई हों ऐसा वहाँ एक भी नहीं था। सबका कौटुंबिक जीवन गाय, अश्व, धन-धान्य आदि से संपन्न था। वहाँ कोई भी वासनाओं का दास, धूर्त, नृशंस,

नास्तिक व मूर्ख नहीं था। सभी स्त्रीपुरुष धर्मशील आनंदी, संयमी व शील-चारित्र्य से सम्पन्न थे। उनके विशुद्ध जीवन को महर्षियों के विशुद्ध जीवन की उपमा दी जा सकती थी। कुंडल धारण न करने वाला, मस्तक पर मुकुट न लगाने वाला, गले में सुगंधित पुष्पों की माला न पहनने वाला, अल्पभोग प्राप्त करने वाला, सुगंधित द्रव्यों का उपयोग न करने वाला, हाथ अथवा देह पर अलंकार धारण न करने वाला, अंगों को अंगराग न लगाने वाला, भरपेट खाने को प्राप्त न करने वाला, दान प्रवृत्ति से शून्य व मन को नियन्त्रण में न रखने वाला, विहित अग्निपूजा न करने वाला, यज्ञ न करने वाला, क्षुद्र मनोवृत्ति का, चोरी करने वाला व जीवन में संकर से युक्त पुरुष वहाँ दिखाई पड़ना असंभव था। वहाँ के ब्राह्मण स्वकर्म में लीन, जितेन्द्रिय, दानी, ज्ञानोपासना में निमग्न व संयमशील प्रवृत्ति के थे। नास्तिक, मिथ्याभाषी, मत्सरी, अशक्त, षडंग वेदों का ज्ञान न रखने वाला, व्रताचरण न करने वाला, दीन, चंचल मनोवृत्ति का, दुःखी, शोभावान् न दिखने वाला, विद्रूप चेहरे का वहाँ कोई नहीं था। सब लोग सश्रद्ध अन्तःकरण वाले, देवता व अतिथियों की पूजा करने वाले, कृतज्ञ, दानशूर, पराक्रम सम्पन्न, दीर्घायुषी, सत्यनिष्ठ व धर्मनिष्ठ थे तथा उनका पुत्रपौत्रादिकों से भरापूरा जीवन बड़ा ही आकर्षक था।"

रामायण का यह वर्णन ज्यों का त्यों ऋग्वेदीय जीवन के लिए भी लागू होता है। मनस्तत्व के विकसन, धार्मिक ज्ञान की प्रखर दीप्ति एवं परमेश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा के द्वारा भौतिक जीवन को नियन्त्रित करना व जीवन संबंधी कलात्मक आसक्ति से विकृत आध्यात्मिकता को स्थान न देना, यही वैदिकों के जीवन का सुन्दर स्वरूप है। सम्पूर्ण जगत् चैतन्य से ओतप्रोत है यह उनकी धारणा होने के कारण उनका जीवन धर्मबुद्धि के वैराग्य की गंगा तथा कलात्मक जीवनोपभोग की यमुना का संगमस्थल बन गया है। संस्कारित व्यक्ति-जीवन की निर्मिति के बिना जीवन में यह मनोहरता उत्पन्न नहीं हो सकती। और इस संस्कारित जीवन का निर्माण विकसित शिक्षण प्रणाली के बिना संभव न होने के कारण वैदिक राष्ट्र की शिक्षण-प्रणाली कैसी थी इसका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है। सामाजिक व वैयक्तिक जीवन को श्रेष्ठ बनाकर इस प्रकार के आदर्श द्विविध मंदिर की निर्मिति उत्कृष्ट शिक्षापद्धति के द्वारा उसकी नींव को दृढ़ किये बिना संभव ही नहीं है। वह शिक्षण-प्रणाली किस प्रकार की थी इसका हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

३

वैदिक राष्ट्र की शिक्षण पद्धति

विश्वगुरुत्व संपादन करने वाला भारत आदि काल से ही शील के लिए प्रसिद्ध है। हमारे पूर्वजों को अपने राष्ट्र के नेताओं के चारित्र्य के संबंध में पहले ही इतना दृढ़ विश्वास एवं आत्मप्रत्यय था कि अपने देश के बारे में गौरवास्पद उद्‌गार निकालते हुए मनु कहते हैं—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(जगत् के समस्त मनुष्यों को चाहिए कि वे इस देश में उत्पन्न हुए नेताओं के जीवन को देखकर तदनुसार ही अपने जीवन को भी चारित्र्य-सम्पन्न एवं आदर्शयुक्त बनायें।) वेदों के उल्लेखों के आधार पर वेदकालीन राष्ट्र के चारित्र्य एवं उसकी नीतिमत्ता का सिंहावलोकन हमने पहले किया ही है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि इसके लिए क्या प्रमाण है कि वैदिक लोगों की जिस श्रेष्ठ आकांक्षा का हमने दर्शन किया है, उसके अनुरूप ही उनका प्रत्यक्ष जीवन भी था ? इसके लिए मेरा उत्तर यह है कि वैदिक वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। तब जहाँ उसी सर्वश्रेष्ठ प्रमाण का उपयोग हृदय-शून्यतापूर्वक वैदिकों की हीनता दर्शाने के लिए किया जाता है, वहाँ यदि उसी प्रमाण के आधार पर वैदिक राष्ट्र की श्रेष्ठता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती हो तो फिर उसे ग्रहण न करने में सिवा अपने मन की हीनम्मन्यता के और क्या कारण हो सकता है ? भारतवर्ष के आगे के इतिहास में बाहर से इस देश में आये हुए प्रवासियों के भारत संबंधी उद्‌गारों का यदि हम अवलोकन करें तो यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि इस देश में देदीप्यमान चारित्र्य-सम्पन्नता विद्यमान थी। बाहर के व स्वभावतः ही शत्रुभाव रखने वाले ये प्रवासी जिन लोगों के आदर्श जीवन को देखकर मुग्ध हो गये, वे सब के सब लोग वेदों के बारे में आत्यंतिक श्रद्धा रखने वाले लोग थे। उनके जीवन का गठन वेदों के द्वारा ही हुआ था और इसलिए वेदों के एतत्संबंधी जो उत्कंठा-पूर्ण उद्‌गार प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि वह राष्ट्र

तदुत्तरकालीन भारतीय राष्ट्र के समान ही देदीप्यमान चारित्र्य एवं तेजस्वी शील से सम्पन्न था। चौदहवीं शताब्दी तक के परकीय प्रवासियों की साक्ष्य देखने पर मन गर्व से उन्नत हो जाता है। भारत में पांडित्य, शौर्य, सम्पत्ति आदि बातों की अपेक्षा शील को ही अत्यधिक महत्व दिया जाता था। मनु ने कहा है—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं प्रियः सुयन्त्रितः ।
नायंत्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ।।

मनुस्मृति २-११८

(केवल गायत्री मंत्र जानने वाला सच्छील ब्राह्मण वेदविद्या पारंगत दुराचारी ब्राह्मण की अपेक्षा सैकड़ों गुना श्रेष्ठ है।) मनु ने तो अंत में यह भी कहा है कि शीलभ्रष्ट मनुष्य को वेदाध्ययन, यज्ञयाग, दानधर्म आदि का किंचित् भी उपयोग नहीं होता; चारित्र्य व सद्वर्तन से ही मोक्ष प्राप्त होता है। भारत क्या था, इस संबंध में परकीय लोगों के प्रमाण मननीय हैं।

भारतीय शील के संबंध में परकीयों का अभिमत

भारतीयों के संबंध में लिखने वाले परकीय लेखकों में चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में ग्रीकों के राजदूत के नाते रहा हुआ मेगस्थनीज़ सबसे प्राचीन है। जिस समय मेगस्थनीज़ चंद्रगुप्त के दरबार में था उस समय ग्रीक एवं हिन्दुओं के संबंध कुछ अच्छे नहीं थे; ग्रीक हिन्दुओं के वैरी एवं प्रतिस्पर्धी थे। इस कारण शत्रु राष्ट्र के प्रतिनिधि के नाते मेगस्थनीज़ का कथन विशेष महत्व रखता है। हिन्दुओं के चारित्र्य के बारे में लिखते हुए वह कहता है—"हिंदुओं को सत्य एवं सद्गुणों की बड़ी चाह है। ऐसा एक भी हिंदु नहीं है जिसे झूठ बोलने की सजा प्राप्त हुई हो। दलाली हिंदुस्थान में बिलकुल नहीं है। धरोहर रखते समय साक्षीदार व हस्ताक्षर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उनका एक दूसरे पर अत्यंत विश्वास है। हिन्दूलोग घरों में सामान्यतः ताले नहीं लगाते।" इसके पश्चात् आये हुए चीनी प्रवासी हुएनसांग के भारत संबंधी उद्गार देखने योग्य हैं। उसने स्वतः ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों का भ्रमण किया था एवं वहाँ के लोगों की छोटी से छोटी बातों का उसने उत्तम रीति से निरीक्षण किया था। हिन्दुस्थान के हिंदु वैदिक धर्म के अनुयायी अर्थात् हुएनसांग के धर्म के प्रतिपक्षी थे। परन्तु फिर भी वह उनके बारे में कहता है—"हिंदु लोग स्वभाव से चंचल परन्तु चारित्र्य की दृष्टि से सच्छील लोग हैं। अन्याय से वे किसी भी चीज का अपहार नहीं करते। जो योग्य है उससे अधिक ही वे अपने प्रतिपक्षियों को देते हैं। वे कभी भी कपट का व्यवहार नहीं करते तथा अपने वचन का सदैव पालन करते हैं।" नवमी शताब्दी में हिंदुस्थान में आये हुए अरबी व्यापारी अल् इद् रिसी ने हिंदुओं के बारे में कहा है कि "न्यायपूर्वक

व्यवहार करने की हिन्दुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है व उनका आचार भी तदनुकूल ही होता है। सद्धेतु एवं प्रामाणिकता के लिए वे प्रसिद्ध हैं। इस कारण चारों ओर के लोग उनके देश में व्यापार करने के लिए आते हैं एवं समृद्ध होते हैं।" तेरहवीं शताब्दी का इटालियन प्रवासी मार्कोपोलो कहता है, "इन ब्राह्मण व्यापारियों के समान नीति एवं सचाई अन्यत्र प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि किसी बात का प्रलोभन दिखाने पर भी वे कभी झूठ नहीं बोलते। यदि किसी परकीय व्यापारी ने अपना माल इनके पास बिक्री के लिए रखा तो वे उसे अधिक से अधिक लाभ मिले, इस चिंता से उसका माल बेच देते हैं और प्राप्त हुए पैसे उसे वापस दे देते हैं। स्वयं होकर वह उन्हें जो दे दे उसी से वे संतुष्ट हो जाते हैं।" चौदहवीं शताब्दी के इब्नबतूता नाम के व्यापारी ने भी इसी प्रकार की जानकारी प्रदान की है।

इस प्रकार के चारित्र्यसम्पन्न राष्ट्र के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उस राष्ट्र पर शतकानुशतक श्रेष्ठ जीवन का संस्कार किया जाए। भारतीय द्रष्टाओं ने भारतीय जीवन को आश्रम पद्धति के द्वारा सुव्यवस्था प्रदान की तथा श्रेष्ठ संस्कार प्रदान करने वाले शिक्षण की व्यवस्था पहले आश्रम में रखी। भारतीय मनुष्य अथवा वैदिक मनुष्य की प्रकृति यज्ञप्रधान है। जीवन एक महान् यज्ञ है तथा विश्वरूप होने की श्रेष्ठ धारणा की निर्मिति के लिए जीवन व तदन्तर्गत समस्त बातों का समर्पण करना आवश्यक है, इस जीवन-दृष्टिकोण का निर्माण किया जाता था। इस समर्पण के लिए आवश्यक जीवन का विकास सौ वर्षों की आयु के प्रथम भाग में किया जाता था, जिसे ब्रह्म-चर्याश्रम कहते थे। इसके बाद का था गृहस्थाश्रम, जो समाज धारणा के लिए आवश्यक दृष्टिकोण पर आधारित था। तीसरा भाग था वानप्रस्थाश्रम। इस में जीवन के ध्येय को प्राप्त करने के लिए तपस्या के द्वारा शारीरिक एवं मानसिक सिद्धता उत्पन्न की जाती थी। चौथा व अंतिम भाग श्रेष्ठ ब्रह्मधारणा का निर्माण कर जीवन की इतिकर्तव्यता के अनुभव का था। जीवन के इन चार विभागों में श्रेष्ठ जीवन की नींव डालने की दृष्टि से पहले भाग का अत्यधिक महत्व था। चौदहवीं शताब्दी तक जिस राष्ट्र का कीर्तिगान शत्रु-राष्ट्र भी मुक्तकंठ से करते थे उस राष्ट्र के श्रेष्ठ जीवन की नींव संस्कार-सम्पन्न शिक्षणपद्धति के द्वारा इस पहले भाग में ही डाली जाती थी। राष्ट्र को चारित्र्य-सम्पन्न व श्रेष्ठ धारणा से युक्त बनाने का अर्थ है उसके प्रत्येक व्यक्ति को उस प्रकार का बनाना। यदि व्यक्ति-विकसन एवं व्यक्ति-निर्माण करने के सूत्रों को तिलाञ्जलि दे दी जाए तो श्रेष्ठ धारणा से युक्त राष्ट्र का निर्माण कभी भी नहीं हो सकता। वैदिक शिक्षणशास्त्रज्ञों के ध्यान में यह बात पहले ही आ गई थी और इस कारण उन्होंने उसी आधार पर अपनी शिक्षण-पद्धति की रचना की।

ब्रह्मचर्याश्रम

शिक्षण प्राप्त करने के इस काल को ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। शीलसंवर्धन, उत्तम गुणों का परिपोष, व्यक्तित्व का विकसन (Development of personality), कर्तव्य के लिए कर्तव्य की भावना की उपासना व प्राचीन संस्कृति का संरक्षण—ये थे प्राचीन शिक्षण-पद्धति अथवा वैदिक शिक्षण-पद्धति के उद्देश्य। अन्य देशों की शिक्षणपद्धति अथवा अन्य समाजों के समाजशास्त्रज्ञों के अनुसार शिक्षण व संस्कार करना केवल व्यवहारिक व सामाजिक स्वरूप का माना जाता है। केवल अतीन्द्रिय सृष्टि से संबंधित बातों को ही वे धर्म मानते हैं, परन्तु वैदिक पद्धति में समग्र जीवन को ही यज्ञ मानने के कारण जीवन की पहली साँस से लेकर अंतिम साँस तक की सारी ही क्रियाएँ धर्म के द्वारा नियन्त्रित एवं परमेश्वरीय सामर्थ्य की अनुभूति से भरी हुई हैं। इस कारण पहले की वैदिक एवं बाद की भारतीय समाज व्यवस्था में शिक्षण को सामाजिक न मानकर उसे एक संस्कार अथवा धार्मिक आचार माना गया है। मनुष्यप्राणी सामान्यतः परमेश्वर को भूल जाता है और उच्छृंखलता की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। इस बात की जानकारी वैदिक धर्मप्रवर्तकों को पूर्ण रूप से होने के कारण उन्होंने अपनी शिक्षण-पद्धति को शुद्ध धार्मिक स्वरूप प्रदान किया ताकि मनुष्य बारम्बार परमेश्वर का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करे एवं कर्त्तव्यबुद्धि से जीवनगठन करने वाले संस्कारों को खुले अन्तःकरण से ग्रहण करे। इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारंभ अर्थात् शिक्षण ग्रहण का प्रारम्भ, उपनयन संस्कार की धार्मिक विधि से होता था। उपनयन याने गुरु के पास ले जाना। गुरु के पास जाने पर विद्यार्थी उनकी आज्ञा से अपने हाथ की समिधा का अग्नि में होम कर ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा लेता था। विद्याग्रहण के काल में शील की इतनी अपेक्षा की जाती थी कि उपनयन किसका किया जावे यह बताते हुए आपस्तंब कहते हैं—**"अदुष्टकर्मणां उपनयनम्"** (आपस्तंब गृह्यसूत्र १-१-५)। निरुक्तग्रंथ में भी विद्या देवता के मुख से ये महत्वपूर्ण उद्गार कहलवाये गये हैं—**"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकाया नृजवेऽयताय न मा ब्रूयः वीर्यवती यथा स्याम्॥** (निरुक्त अ० २ खं० ४ श्लोक १) (कहते हैं कि विद्या ब्राह्मण के यहाँ आई और कहने लगी कि मैं तेरी सर्वश्रेष्ठ निधि हूँ, इसलिए मेरा संरक्षण कर। मुझे ऐसे व्यक्ति को मत देना जो ज्ञान की असूया अर्थात् द्वेष करता हो, सरल मार्ग से न जाकर टेड़े-मेढ़े मार्ग से जाता हो व जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में न हों।) उपनयन संस्कार से शिक्षण का प्रारम्भ होने के कारण संस्कारित शिक्षण ग्रहण करना धार्मिक कर्तव्य बन गया।

ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् शिक्षा ग्रहण के काल में सब दृष्टि से पवित्र रहते हुए प्रत्यक्ष गुरु की देखरेख में, व्रत के नाते, एकाग्रचित्त से विद्या ग्रहण करना होता

था। बाद के काल की स्मृतियों एवं गृह्यसूत्रों में वर्णित ब्रह्मचर्य के स्वरूप को हम वेदों के नाम पर थोप रहे हों सो बात नहीं है। प्रत्यक्ष वेदों में ही ब्रह्मचर्य के असीम महत्व का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य का उल्लेख निम्नानुसार है—

"ब्रह्मऽचारी चरति वेविषत् विषः सः देवानाम् भवति एकम् अङ्गम्" (जो ब्रह्मचर्य से रहता है, अर्थात् जो प्रार्थना और तप में निमग्न रहता है, वह सर्वव्यापी कर्तव्य में लीन हो जाने के कारण देवों में सम्मिलित हो जाता है।) 'ब्रह्मचारी देवों में सम्मिलित हो जाता है'—इन शब्दों के द्वारा ऋग्वेदीय ऋषि का ब्रह्मचर्याश्रम संबंधी दृष्टिकोण उत्कृष्ट रीति से व्यक्त होता है। मानवी जीवन से पशुत्व का पूर्ण रूप से उन्मूलन कर विशुद्ध देवजीवन निर्माण करने का सामर्थ्य जिस काल में प्राप्त करना होता है, वही काल ब्रह्मचर्य का काल है। विद्याग्रहण संस्कार प्राप्ति के काल के संबंध में उनकी इसी प्रकार की दृष्टि थी। अथर्ववेद में तो ब्रह्मचर्याश्रम का बड़ा ही सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है व उससे यह सिद्ध हो जाता है कि आगे के गृह्यसूत्रादि ग्रंथों में बताई गई विधि वेदकाल में ही पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी। अथर्ववेद में कहा है :—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥१॥
ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्तिसर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशता षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥
आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिर्भति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥
इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥४॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥६॥
ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥७॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥९॥

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितो ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चीषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम औषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥१४॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोभवद् वशी ॥१६॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥१९॥

औषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥२२॥

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

ब्रह्मचारी ब्रह्मभ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्ममेधाम् ॥२४॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ।।२५।।
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ।।२६।।

—अथर्ववेद कांड ११ सू० १-२-३

ब्रह्मचारी अपने स्वतः के तपः सामर्थ्य से द्यौ एवं पृथिवी को व्याप्त करता हुआ अपनी तपश्चर्या में निमग्न रहता है। समस्त इन्द्रादि देवताओं को उसके ऊपर अनुग्रह करने में प्रसन्नता होती है । अपनी तपश्चर्या से पृथ्वी एवं स्वर्ग को धारण कर वह अपने गुरु का परिपालन करता है। **'शिष्यपापं गुरोरपि'** के अनुसार शिष्य का पाप गुरु को लगता है । इस कारण ब्रह्मचारी इतना कर्त्तव्यदक्ष रहता है कि वह अपने व्यवहार से गुरु को किंचित् भी पाप नहीं लगने देता । गुरु के परिपालन का यही अर्थ है ।।१।।

पितृगण, देवों का संघ व इन्द्रादिक श्रेष्ठ देवता तथाच तैंतीस देव, गंधर्व व अंतरिक्ष में संचार करने वाली अन्य विभूतियाँ अपने सामर्थ्य से ब्रह्मचारी का संरक्षण करती हैं। व ब्रह्मचर्य ही देव मनुष्यादि के रूप में समस्त जगत् का धारण करता है ।।२।।

अथर्ववेद का बारीकी से निरीक्षण करने वालों को यह स्पष्ट दिखाई देगा कि अथर्ववेदकाल में उपनयनादि संस्कार सिद्धावस्था प्राप्त कर चुके थे । यह पहले ही बताया जा चुका है कि वेदों का पौर्वापौर्व्य निश्चित करने के लिए कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है । और ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध देवत्व से स्पष्ट ही बताया गया है। इस कारण यह स्पष्ट है कि वेदकाल में भारतीय शिक्षणप्रणाली अपनी परिणतावस्था को प्राप्त कर चुकी थी । तीसरी ऋचा में कहा गया है—"उपनयन करने वाला आचार्य अपने विद्या-रूपी शरीर के गर्भ में उसको तीन दिनों तक रखता है और चौथे दिन जब उस विद्यामय शरीर से वह उत्पन्न होता है, अर्थात् जब उसका दूसरा जन्म होता है, तब उस ब्रह्मचारी को देखने के लिए समस्त देवता आते हैं ।" ।।३।।

त्रैवर्णिकों की द्विज संज्ञा प्रसिद्ध ही है। उनका पहला जन्म माता पिता से तथा दूसरा उपनयन संस्कार से होता है । उपनयन संस्कार के पश्चात् ही द्विजत्व प्राप्त होता है। धर्मसूत्रादि ग्रंथों में भी यह कल्पना विद्यमान है। आपस्तंब धर्मसूत्र में कहा गया है—**"स हि विद्यातः तं जनयति ता श्रेष्ठं जन्म शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ।"** (आपस्तंब ध० सू० १-१-१५, १७) यह आपस्तंब धर्मसूत्र की धारणा वेदकाल में ही सिद्ध हो चुकी थी। यह अथर्ववेद के उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है । ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य में समिधा से अग्नि में होम करने की व मौंजीबंधन अर्थात् मुंज नाम की दूर्वा

की मेखला धारण करने की विधियाँ अथर्ववेद काल से ही प्रचलित हैं। उपनयन एक शारीरिक संस्कार होने के कारण वह समस्त त्रैवर्णिकों के लिए आवश्यक था। शुद्ध शील चारित्र्य वाले व्यक्ति का ही उपनयन किया जाना चाहिए। ऐसा विधान होने पर भी इस आशा एवं विश्वास से कि प्रत्येक अश्रद्ध व्यक्ति को संस्कारों के प्रभाव एवं ब्रह्मचर्याश्रम के पवित्र वातावरण के द्वारा सद्वर्तनी बनाया जा सकता है, उपनयन को एक शारीरिक अर्थात् आवश्यक संस्कार बना दिया गया। जिसका उपनयन न हुआ हो उस व्यक्ति से किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसे आगे के विवाहादि संस्कारों का बिल्कुल अधिकार नहीं है आदि सारे ही नियम उपनयन के शारीरिक संस्कार होने के ही द्योतक हैं। उपनयन शारीरिक संस्कार बन जाने के कारण वेदरक्षण के लिए समस्त समाज की सहायता प्राप्त कर सकना भी सम्भव हो गया। आगे चलकर कुछ विचित्र प्रकार भी रूढ़ हो गये परन्तु वे सारे **"अत्याचारस्तु मूर्खता"** के क्षेत्र में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, मैसूर राज्य की मठवल्ली तहसील में प्राप्त ईसवी सन् १३५८ के एक शिलालेख में वर्णन हैं कि एक ब्राह्मण ने एक मंदिर को एक बगीचा दान में दिया। उसने उसके चारों कोनों पर पीपल के वृक्ष लगवाये। अश्वत्थ वृक्ष तो पवित्र है ही, परन्तु उसने उनकी पवित्रता को बढ़ाने के लिए उन चारों वृक्षों का उपनयन संस्कार किया।

उपनयन पांचवें, सातवें व नौवें वर्ष में होता था। पांचवें वर्ष से शिक्षण का प्रारम्भ किया जाना चाहिए। यह तत्व आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों को भी मान्य है। क्षत्रिय, वैश्य आदि लोगों का उपनयन देरी से होता था। ब्राह्मणों का उपनयन जल्दी व इतर लोगों का उपनयन देरी से करने में कुछ लोगों को ब्राह्मणों का षड्यंत्र दिखाई देता है। परन्तु यह गलत है। उपनयन संस्कार में सावित्री मंत्र अथवा गायत्री मंत्र के उच्चारण का अत्यधिक महत्व रहता है। यह उच्चारण स्पष्ट रीति से किया जा सके इसीलिए ब्राह्मणों को भी नौवें वर्ष तक उपनयन की व्यवस्था रखी गई है। क्षत्रियों व वैश्यों के लिए आयुमर्यादा अधिक रखने का कारण यह है कि ब्राह्मणों का सावित्री मंत्र गायत्री वृत्त का है अर्थात् उसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर हैं, जबकि क्षत्रियों का मंत्र त्रिष्टुभ् वृत्त का है जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर रहते हैं व उसी प्रकार वैश्यों का मंत्र जगती वृत्त का है जिसके प्रत्येक चरण में बारह अक्षर रहते हैं। उच्चारण सौकर्य एवं अन्य सुविधाओं की दृष्टि से ही वयोमर्यादा निश्चित की गई है। परन्तु सोलह वर्ष के अन्दर ही उपनयन हो जाना चाहिए यह मत सामान्यतः रूढ़ था। शिक्षण संस्कार की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। जैमिनि गृह्यसूत्र में कहा गया है—**"नाति षोडशवर्ष-**

मुपनयीत प्रसृष्टवृषणो ह्येष वृषलीभूतो भवति" (सोलहवें वर्ष के बाद उपनयन नहीं करना चाहिए क्योंकि उस आयु के पश्चात् कामादि विकारों के उद्भव से मनुष्य पतितावस्था की ओर झुकता है।) आगे चलकर क्षत्रियों एवं वैश्यों का लक्ष्य विद्या के बदले व्यवसाय हो जाने के कारण उनके लिए उपनयन एक शारीरिक संस्कार मात्र रह गया और इसीलिए उन्हें क्रमशः बाईस से तेंतीस व चौबीस से छत्तीस वर्ष तक की छूट मिली।

उपनयन संस्कार के पूर्व, पहले मातृभोजन व तदनंतर स्नान की विधि है। उच्छृंखलता समाप्ति की सूचना देने के लिए यह स्नान के पूर्व भोजन की व्यवस्था है। इसके पश्चात् उपनयन संस्कार के समय वपन व स्नान हो जाने पर ब्रह्मचारी को कमर में बांधने के लिए एक मेखला व पहनने के लिए एक लंगोट दी जाती थी। ब्रह्मचारी की मेखला तीन घेरों में बुनी जाती थी। इस प्रकार की मेखला धारण करने का अर्थ यह होता है कि अब ब्रह्मचारी को तीन वेदों के अध्ययन में मग्न हो जाना चाहिए। अथर्ववेद के छठवें कांड में इस प्रसंग के लिए **'श्रद्धाया दुहिता'** आदि मंत्र दिये गये हैं। अपने शरीर पर आठों प्रहर रहने वाली यह मेखला पावित्र्य का रक्षण कर हमारे नैतिक एवं शारीरिक सामर्थ्य को बढ़ाने में सहायता देगी। इस प्रकार की भावना मेखला धारण में समाविष्ट की गई है। इस मेखला धारण एवं समिधा से अग्नि में हवन कर उसकी पूजा करने की क्रिया के महत्व का वर्णन करते समय ऊपर उद्धृत अथर्ववेद के ग्यारहवें कांड के प्रथम सूक्त की चौथी ऋचा में कहा गया है—"अग्नि में अर्पित की जाने वाली तीन समिधाएं यह बताती हैं कि यह दृश्य पृथ्वी पहली समिधा है व द्युलोक दूसरी, व इनका अग्नि में होम करने से द्यावापृथिवी का पालन होता है। मेखलाधारण व तदनंतर की जाने वाली तपस्या से ब्रह्मचारी सब लोगों का पोषण करता है।" ॥४॥

इन समस्त सत्यज्ञानादि लक्षणों से यह स्पष्ट है कि परब्रह्म ही जगत् का आदिकारण है। इस परब्रह्म से तेजस्वी वस्त्रधारण करने वाला ब्रह्मचारी सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उससे ब्रह्म अर्थात् वेद आविष्कृत हुए व वेदों से फिर देवादि समस्त सृष्टि प्रगट हुई। इस कारण ब्रह्मचारी सर्वश्रेष्ठ है ॥५॥

उपनयन के समय से प्रारंभ होने वाले होम को ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि में नित्य करना पड़ता था। मेखला धारण कर ब्रह्मचारी कृष्णाजिन ओढ़ा करता था। वह शिरोभाग में जटा धारण करता था व रोज अग्नि में समिधा का हवन करता था। अग्नि में हवन करना ब्रह्मचारी का अत्यंत महत्व का कार्य समझा जाता था। गुरु के पास जाते समय हाथ में समिधा लेकर जाने का अर्थ यही है कि मैं वह कर्त्तव्य करने के लिए पूरी तरह सिद्ध हूं। उपनयन

के समय मृगचर्म ओढ़ने की विधि है। मृगचर्म ओढ़ने का तात्पर्य बताते हुए गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है—**"स यन्मृगाजिनानि वस्ते तेन तद् ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे"** अर्थात् मनोहर व चमचमानेवाला हरिणाजिन ब्रह्मवर्चस का द्योतक है। इसे ओढ़ने का आशय यही है कि ब्रह्मचारी को सदैव ब्रह्मवर्चस प्राप्त करने का ध्यान बना रहे। यही उत्तरीय आगे चलकर कपड़े का हो गया व तदनंतर उसे आज के यज्ञोपवीत का स्वरूप प्राप्त हुआ। मेखला, कौपीन व इस यज्ञोपवीत को धारण कर ब्रह्मचारी समिधा के द्वारा अग्नि में होम करता है व उससे तेज की अपेक्षा करता है। अथर्ववेद में वर्णन है—"समिधा में प्रात: काल व संध्याकाल अग्नि में होम कर उससे उत्पन्न होने वाले तेज से देदीप्यमान, दीक्षित हरिणाजिन धारण करने वाला तथा दीर्घ जटाभार से युक्त ब्रह्मचारी अपने तप की महिमा से दोनों समुद्रों के बीच के अंतर को पूर देता है ।।६।।

वह अपने ब्रह्मचर्य की महिमा से गंगादि नदियों तथा ब्रह्मादिकों को सहायता पहुँचाता है। ब्रह्म ने सृष्टि का निर्माण ब्रह्मचर्य की महिमा के कारण ही किया है। इन्द्र ब्रह्मचर्य के तपोबल से असुरों को मृत्युलोक पहुँचाता है ।।७।।

आचार्य के नियन्त्रण में रहकर समस्त नियमों का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पर देव भी कृपा करते हैं ।।८।।

भिक्षा के द्वारा ब्रह्मचारी द्युलोक व पृथ्वी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तथा दो समिधाओं के अर्पण से द्यावापृथिवी का पालन करता है ।।९।।

वेदरूपी एक महान् निधि आचार्य की हृदयरूपी गुफा में सुरक्षित रखी हुई है। ऐसी ही और एक निधि भी (अर्थात् वेदप्रतिपादित आधिदैविक क्षेत्र की देवतारूप शक्ति) उसी गुप्त स्थान पर विद्यमान है। ब्रह्मचारी अपनी तपस्या व अध्ययन से इन दोनों ही निधियों का संरक्षण करता है व उनके रहस्य पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है ।।१०।।

इस पृथ्वी के नीचे एक अग्नि है (अनुदित सूर्य) व पृथ्वी के ऊपर दूसरी लौकिकाग्नि है। सूर्योदय होते ही ब्रह्मचारी इन दोनों अग्नियों की किरणों का सम्मेलन उत्पन्न करता है व उसके द्वारा द्यावापृथिवी में संबंध उत्पन्न कर वह उन्हें अपने तप से सुस्थिरता प्राप्त कराता है ।।११।।

ब्रह्मचारी के सामर्थ्य के कारण ही वरुण मेघरूप में गर्जन करते हुए अपने वीर्य से पृथ्वी का सिंचन करता है व योग्य समय पर होने वाले इस सिंचन के कारण चारों दिशाएं प्रफुल्लित हो उठती हैं। धनधान्य का उत्पादन होकर जगत् का जीवन सुचारु रूप से चलता है ।।१२।।

(सायणाचार्य ने इस ऋचा का भाष्य करते हुए कहा है कि इससे ब्रह्मचारी का ऊर्ध्वरेतस्कत्व अथवा कठोर ब्रह्मचर्यव्रत सूचित होता है। **"एतेन**

सर्वजगदुत्पादनार्थ ऊर्ध्वरेतस्कत्व ब्रह्मचारिणः सूचितं भवति वारुणमेव रेतः सिंचति न स्वकीयं इत्यर्थस्य अवगमात् ।") तात्पर्य यह कि जिस राष्ट्र में ब्रह्मचारी रहता है वहाँ योग्य समय में योग्य वृष्टि होकर राष्ट्र का जीवन सुव्यवस्थित रीति से चलता है। अग्नि, सूर्य, चन्दमा, वायु व आप—इनमें से पहले वाले के अभाव में आगे वाले को ब्रह्मचारी समिधा का अर्पण करता है। उनके कारण धन-धान्य, पशु, पौत्रादि सभी बातों की यथाक्रम समृद्धि होकर प्रजा का जीवन सुखी व आनन्दित होता है ।।१३।।

आचार्य ही मारने वाला मृत्युदेव है (गम्भीर अपराध करने पर), आचार्य ही दुरित निवारण करने वाला वरुण देव है व अतीव आह्लादप्रद होने के कारण आचार्य ही चंद्रदेव भी है व उसी के कारण सब प्रकार की समृद्धि प्राप्त होती है ।।१४।।

वरुणदेव ने आचार्य बनकर उदक रूप से पृथ्वी का पोषण किया। अपने जनक प्रजापति को वरुण ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया और यह कार्य करते समय उसने अपने शरीर की ओर ध्यान देकर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण किया। (उसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत का अंगीकार करने वाले शिष्य को भी अपने विद्योपदेशक गुरु की समस्त अपेक्षाएं गुरुदक्षिणा के रूप में पूर्ण करना चाहिए।) ।।१५।।

आचार्य सर्वदेवात्मक है। उसके माहात्म्य का भला कौन वर्णन कर सकता है ?।।१६।।

राजा ब्रह्मचर्य से ही राष्ट्र का संरक्षण करता है। (यहाँ दो अर्थ संभवनीय हैं। वह राजा जिसके राज्य में सुखपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत की दीक्षा लेने वाले विद्यार्थी तैयार होते हैं अथवा वह जो स्वतः ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर स्वकर्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से सजग है।) विशुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करने वाले विद्यार्थी को ही आचार्य सर्वस्व दान करते हैं ।।१७।।

ब्रह्मचर्यव्रत से ही कन्या को उत्कृष्ट पति प्राप्त होता है। यही नहीं, घोड़े, बैल आदि पशुओं को भी उसी के कारण उपजीवन प्राप्त होता है ।।१८।।

ब्रह्मचर्य के कारण देव अमर हो गये व इन्द्र स्वर्ग का सम्राट् बन गया ।।१९।।

औषधि जगत् का जीवन व्यापार, दिवस-रात्रि तथा ऋतुचक्र सभी ब्रह्मचर्य की तपस्या से चलते हैं ।।२०।।

समस्त स्थावर जंगमात्मक जगत् व प्राणिमात्र प्रजापति के ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही उत्पन्न हुए हैं ।।२१।।

ब्रह्मचारी आचार्यमुख से वेदों का संरक्षण करता है व उन वेदों के सामर्थ्य से समस्त जगत् का प्राणरक्षण होता है ॥२२॥

(यहाँ वेदरक्षण का जो माहात्म्य बताया गया है उसमें दृढ़ता लाने के लिए आगे वेदों का माहात्म्य बताया गया है।) प्रत्यक्ष परब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है तथा वेदों से ही समस्त देवता अपनी अपनी शक्तियों सहित उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥

ब्रह्मचारी वेद अर्थात् अत्यंत तेजस्वी ब्रह्म को धारण करने के कारण देवता, इन्द्रिय व सृष्टि का आश्रय होता है ॥२४॥

उसी प्रकार वह समस्त ज्ञानेन्द्रियों, अन्न व रेत का भी आश्रय होता है ॥२५॥

हे ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मदेव, तुम हमें ज्ञानेन्द्रियों की सम्पन्नता प्रदान करो। उसी प्रकार पुत्र-पौत्र धन-धान्यादि की समृद्धि दो। नित्य स्नान के द्वारा पवित्र होने वाला तपस्वी ब्रह्मचारी अत्यंत शोभायमान होता है ॥२६॥

अथर्ववेद में वर्णित ब्रह्मचर्य के इन नियमों एवं वर्णनों को पढ़ने के पश्चात् इस बात की स्पष्ट कल्पना आ जाती है कि वैदिकों की दृष्टि में इस संस्कारित विद्याध्ययन काल का कितना महत्व था तथा उसमें के छोटे से छोटे संस्कार भी शिक्षण शास्त्र की दृष्टि से कितने विचारपूर्वक नियोजित किये गये थे। ब्रह्मचर्य एक व्रत है, यह धारणा उत्पन्न करने का वैदिकों ने पहले से ही प्रयत्न किया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—**"यथा ह वा अग्निः समिद्धो रोचते एवं ह वै स स्नात्वा रोचते ब्रह्मचर्यं चरति।"** (जिस प्रकार अच्छी तरह से प्रज्वलित होने पर अग्नि नारायण अत्यंत तेजस्वी दिखाई देते हैं उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के दिव्य प्रभाव को जानकर उसके अनुसार व्रतोपासना करने वाला तथा विद्या प्राप्त कर व्रतस्नात हुआ ब्रह्मचारी भी ब्रह्मवर्चस तेज से देदीप्यमान हो उठता है।) अभी तक हमने मेखला, कौपीन एवं यज्ञोपवीत संबंधी उपनयन के संस्कारों का अवलोकन किया। और भी कई क्रियाएं इस व्रतधारण के प्रसंग पर की जाती हैं। आर्यों की शिक्षणपद्धति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनका अध्ययन करना भी आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य दीक्षाग्रहण

सर्वप्रथम बटु के द्वारा समिधा से अग्नि में हवन कराया जाता था तथा उसके द्वारा अग्नि से यह प्रार्थना करवाई जाती थी कि वह अपने समान ही बटु को भी तेजस्वी बनाये। ब्रह्मचारी के द्वारा नित्यप्रति की जाने वाली अग्नि की प्रार्थना कितनी उत्कृष्ट व मन में तेजस्वी धारणा का निर्माण करने वाली है यह देखने योग्य है। वह प्रार्थना निम्नानुसार है :—

"अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे एवमहमायुषा मेधया वर्चसा पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासम्ऽस्वाहा।" (मैंने इन अग्निदेव के लिए समिधा लाई है। हे अग्निदेव, जिस प्रकार आप इस समिधा से प्रज्वलित होकर तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार मैं भी आपके कृपाप्रसाद से आयुष्मान, कान्तिमान, बुद्धिमान, प्रज्ञाशाली व प्रतिभाशाली बनूँ। मेरे गुरुदेव के पुत्र दीर्घकाल तक जियें। मैं भी ज्ञानी बनूं व आचार्य देव द्वारा सिखलाई गई विद्या को अपने अंतःकरण में सँजोकर रखूँ। अपने कार्य में मैं यशस्वी होऊँगा। मैं इससे जगत् में प्रभावशाली बनूंगा, प्रतिभा के तेज से चमकूंगा तथा अन्न का उत्तम भोक्ता बनूंगा।) ब्रह्मचर्य काल में अग्नि के समक्ष नित्यप्रति की जाने वाली इस प्रार्थना में कितना औचित्य संचित है, यह कम से कम सजग शिक्षणशास्त्रज्ञों को तो बताने की आवश्यकता नहीं। चारित्र्यसम्पन्न व मार्गदर्शक गुरु के स्नेहसिक्त नियन्त्रण में रहने वाला तथा कुसंस्कार प्राप्त करने लायक जगत का संबंध प्राप्त न किया हुआ आठ वर्ष का तेजस्वी वैदिक बालक जब उगते सूर्यनारायण के समक्ष अग्नि प्रज्वलित कर उसके तेज के आगे जीवन के इस रसमय ध्येयवाद का नित्य उच्चारण करता होगा और वह भी प्रतिदिन प्रातःकाल व संध्याकाल, तब उसका अंतःकरण अकारण उपदेश के घूंटों के बिना ही अपने आप कितना श्रद्धाशील महत्वाकांक्षी, निष्पाप, उत्साही व पवित्र बनता जाता होगा, इसकी कल्पना किसी भी सहृदय अंतःकरण वाले विचारवान व्यक्ति के ध्यान में सहज ही आ सकती है। आज के भारतीय विद्यार्थियों के स्वैराचारी व उच्छृंखल व्यवहार को देखकर उसका निदान करते हुए उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने करुणापूर्ण शब्दों में कहा है कि श्रद्धाहीनता बढ़ती जा रही है। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने भी बारम्बार इसी आशय के उद्गार प्रगट किये हैं। वेदकाल से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक के द्रष्टाओं को इस प्रकार का करुण आक्रन्दन करने का अवसर ही नहीं आया, इसका कारण यही है कि उनके तेजस्वी राष्ट्र में यह उद्दण्डता नहीं थी। शिक्षण प्रणाली का निर्माण करते समय ही उन्होंने व्यक्ति के विकास के बारे में पूर्ण रीति से विचार कर लिया था। उनकी इस सीधीसादी अग्नि-प्रार्थना का यदि हम विचार करें तो उन्होंने श्रद्धामय, तेजस्वी, कर्त्तव्यपरायण व चारित्र्यसम्पन्न राष्ट्र की नींव किस कुशलता से डाली थी यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है। अग्नि के समान ही बटु भी तेजस्वी व बलवान बन सके इस निमित्त जो प्रार्थना की जाती थी उसके द्वारा विद्यार्थी के मन पर इस बात का संस्कार करने का भी प्रयत्न किया जाता था कि धार्मिक व साँस्कृतिक योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से शिक्षण के समकक्ष ही ब्रह्मचर्य का काल भी अत्यन्त

महत्व का है। इसके पश्चात् **"देव सवितः एष ते ब्रह्मचारी समामृत"** यह प्रार्थना कर ब्रह्मचारी को सविता, भग, यम, अर्यमा आदि देवताओं को सौंपा जाता था। इसके द्वारा विद्यार्थी के मन में यह आत्मविश्वास जागृत होता था कि ब्रह्मचर्यव्रत के द्वारा अपने जीवन को राष्ट्र, समाज व धर्म के लिए उपयुक्त बनाने के इस पवित्र कार्य में ईश्वर मेरे साथ है। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी से एक मजेदार प्रश्न पूछा जाता था जिसका वर्णन उसके उत्तर के साथ स्मृतिचंद्रिका में अत्यन्त उत्कृष्टता से किया गया है। गुरु ब्रह्मचारी से पूछते थे—"तू किसका ब्रह्मचारी है ?" वह स्वाभाविक रीति से उत्तर देता था कि मैं आपका विद्यार्थी हूँ। यह सुनकर गुरु उसे समझाकर बताते कि तुझसे गलती हुई है। तू मेरा ब्रह्मचारी नहीं है अपितु सब देवों में महाप्रतापी इन्द्र तथा अत्यन्त तेजस्वी अग्नि का ब्रह्मचारी है। मैं उनका प्रतिनिधि हूँ तथा उनकी ही आज्ञा से मैं तुझे आज से शिक्षण देना प्रारम्भ करूँगा। विद्यार्जन व धर्म संरक्षण का कार्य अत्यन्त पवित्र है तथा उस कार्य में देवता भी अपने सहायक होते हैं, यह श्रद्धा बाल विद्यार्थी के मन में उत्पन्न हो यही इस संवाद का स्पष्ट हेतु है।

शिक्षण कहते ही गुरु व शिष्य के सम्बन्ध की बात आती है। यह सम्बन्ध जितना सरस व प्रेमपूर्ण होगा उतना ही विद्यार्जन भी सुव्यवस्थित होगा। इसे दर्शाने के लिए हृदयस्पर्शन की एक विधि की जाती थी। इस विधि में गुरु शिष्य के हृदय पर हाथ रखकर इस आशय के मंत्र कहता था कि हम दोनों में चिरकाल तक प्रेम व विश्वास बना रहे। इसके अनन्तर अश्मारोहण की विधि सम्पन्न की जाती थी, जिसमें गुरु शिष्य को पत्थर के ऊपर खड़ा करके उससे कहता था कि तू शरीर व निश्चय में इस पाषाण सरीखा दृढ़ बने। इस विधि के पश्चात् उपनयन संस्कार पूर्ण हो जाता था। धार्मिकता के आवरण में बालविद्यार्थी के अन्तःकरण में ये समस्त भावनाएं निर्माण करना वास्तव में कितना महत्वपूर्ण है, यह कम से कम सजग शिक्षणशास्त्री को तो बताने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार पहले उपनयन संस्कार के पूरे हो जाने पर बाद में सावित्रीमंत्रग्रहणपूर्वक वेदविद्या का प्रारम्भ होता था।

उपनयन संस्कार

सूर्य व अग्नि वैदिक धर्म के श्रेष्ठ देवता हैं। त्रैवर्णिकों के लिए इन्हीं की उपासना का निर्देश है। सावित्री मंत्र गगनमंडल में अखंड प्रकाशमान रहने वाली अग्नि अर्थात् सूर्यनारायण की उपासना का मंत्र है। यह मंत्र गायत्रीवृत्त में होने से आगे चलकर इसका नाम गायत्री मंत्र पड़ गया। सावित्री मंत्र ही इसका वास्तविक नाम है क्योंकि यह सविता का मंत्र है। ब्राह्मणों का सावित्री

या गायत्री मंत्र प्रसिद्ध ही है। **'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'** (ऋ० ३, ६२, १०) "अखिल चराचर को प्रेरणा देने वाले सवितानारायण के सर्वश्रेष्ठ, अवर्णनीय तथा सबको प्रिय लगने वाले तेज का ध्यान करना हमारा कर्तव्य है। वह परमात्मा हमारी बुद्धि व ध्यानभक्ति को उत्तम रीति से प्रेरणा देवे।" सूर्य के जिस तेज से सकल चराचर सृष्टि को जीवनरस की प्राप्ति होती है उस तेज की उपासना से हमारी सद्बुद्धि को प्रेरणा प्राप्त होवे—ऐसी यह सूर्य की प्रार्थना नित्य की जाती थी। क्षत्रियों का मंत्र त्रिष्टुभ् वृत्त का तथा वैश्यों का जगती वृत्त का है। मनुस्मृति के विख्यात टीकाकार मेधातिथि के मतानुसार क्षत्रियों का सावित्री मंत्र निम्नानुसार है।

"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो विवेशयन् अमृतं मर्त्यं च हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥" (ऋ० १, ३५, २) 'कृष्णवर्ण अंतरिक्ष में से मार्गाक्रमण करता हुआ, अमर्त्य व मर्त्य सभी को अपने अपने उद्योगों में प्रवृत्त करता हुआ, समस्त भुवनों का अवलोकन करने वाला सविता अपने सुवर्णमय रथ में बैठकर आ रहा है।' परन्तु सांख्यायन गृह्यसूत्र के टीकाकार नारायण के मतानुसार क्षत्रियों का मंत्र इस प्रकार है—**"हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिः उभे द्यावापृथिवी अंतरीयते। अपामीवां बाधते वे ति सूर्यं अभिकृष्णेन रजसा द्यां ऋणोति।"** (ऋ. १, ३५, ९) 'सुवर्ण रश्मिमान् तथा सर्वसंचारी सवितादेव स्वर्ग व पृथ्वी के बीच से अपना मार्गाक्रमण करता है। वह रोगों का निर्मूलन करता है। सूर्य का रूप धारण कर वह कृष्णवर्ण रजोलोक से द्युलोक पर्यंत जाता है।' क्षत्रियों के समान ही वैश्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही मतभेद है। मेधातिथि, श्यातातप व लौगाक्षि के मतानुसार वैश्यों का सावित्री मंत्र निम्नानुसार है—**'विश्वारूपाणि प्रतिमुंचते कविः प्र असावीत् भद्रं द्विऽपदे चतुष्पदे। वि नाकं अख्यत् सविता वरेण्यं अनुप्रऽयानं उषसः वि राजति ॥'** (ऋ० ५, ८१, २) "जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का आकार वह ज्ञानी कवि सविता ही बनाता है। पशु, पक्षी व मनुष्यों के लिए जो बातें कल्याणप्रद हैं उनका निर्माण भी उसी ने किया है। सर्वोत्तम सविता ने गगनमंडल के मध्यस्थल पर अपनी दृष्टि फेंकी व उषा के पीछे पीछे उसी मार्ग से वह सुप्रकाशित हुआ।" परन्तु आश्वलायन व वाराह गृह्यसूत्रों के मतानुसार इसी सूक्त का पहिला मंत्र वैश्यों का सावित्री मंत्र कहा गया है। वह इस प्रकार है—**'युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपःऽचितः। विहोत्राः दधे वयुनऽवित् एकः इत् मही देवस्य सवितुः परिऽस्तुतिः।'** (ऋ०५, ८१, १) "स्फूर्ति देने वाले अत्यन्त विचक्षण व जगत्प्रेरक सविता के ज्ञानी उपासक अपना ध्यान व मन उसी की सेवा में लगा देते हैं। सदाचार का ज्ञान केवल उसी को (सविता को) है। होत्र कर्म करने का

विधान वही बनाता हैं। उस जगत्प्रेरक देव की स्तुति सचमुच ही सर्वश्रेष्ठ है।" सांख्यायन गृह्यसूत्र के टीकाकार नारायण के मतानुसार वैश्यों का सावित्री मंत्र इस प्रकार का है—**'हंसः शुचिऽसत् वसुः अंतरिक्षऽसत् होता वेदिऽसत् अतिथिः दुरोणऽसत्। नृऽसत् वरऽसत् ऋतऽसत् व्योमऽसत् अप्ऽजाः गोऽजाः ऋतऽजाः अद्रि जाः ऋतम् बृहत्॥'** "वह निष्कलंक तेज के स्थान पर अधिष्ठित होने वाला हंस है, अन्तरिक्ष में विराजमान होने वाला दिव्यनिधि है, वेदी पर आरोहण करने वाला अग्निरूप होत्री है तथा यजमान के घर वास करने वाला अतिथि है। वह शूरों के समाज में विचरता है, अत्युच्च लोक में रहता है तथा सद्धर्म में व्याप्त रहकर पुनः आकाश में भी स्थानापन्न होता है। वह दिव्योदक में प्रगट होता है, प्रकाश से आविर्भूत होता है तथा सद्धर्म तथा पर्वत से भी वह प्रगट होता है। इस प्रकार वह धर्मरूप ही है।" गायत्री मंत्र की दीक्षा के पश्चात् ब्रह्मचारी के हाथ में दंड दिया जाता था। यह प्रवास की निशानी है। ज्ञान व बलसम्पादन के मार्ग का मैं प्रवासी हूँ, यह भावना ब्रह्मचारी के मन में सतत् जागरूक रहे यही इस दंड के देने में आचार्य का हेतु हुआ करता था। दंडधारण के पश्चात् ब्रह्मचारी को भिक्षा के लिए निकलना पड़ता था, किन्तु उपनयन संस्कारांगभूत यह प्रथम दिवस का भिक्षाटन केवल नाममात्र का रहता था, क्योंकि माँ अथवा तत्सम किसी व्यक्ति से ही उस दिन भिक्षा माँगनी पड़ती थी। उपनयन के पश्चात् तीसरे दिन बुद्धि तीव्र करने वाला 'मेधाजनन' नाम का संस्कार हो जाने पर उपनयन संस्कार समाप्त हो जाता था।

उपनयन संस्कार की इन समस्त विधियों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त भाव उत्पन्न करने के निमित्त किस प्रकार छोटे से छोटे विधि विधानों की रचना की गई है। 'स्वावलंबन, स्वाभिमान व संयमपूर्ण जीवन का उदात्त रम्य काल अब प्रारम्भ होने वाला है, ज्ञानार्जन व सामर्थ्यसंपादन का कार्य अतिशय कष्ट साध्य होने पर भी दृढ़निश्चय पूर्वक प्रयत्नशील रहने पर यश अवश्यमेव प्राप्त होता है, इस संस्कार के कारण इस पवित्र कार्य में परमेश्वर अपना सहायक है; हम इन्द्र के समान पराक्रमी, सूर्य के समान तेजस्वी बनेंगे, फिर अपने लिए असंभव कुछ भी न रहेगा, अपने आश्रमधर्म का यदि हम यथावत् पालन करेंगे तो मृत्यु को भी हमारा स्पर्श करने की हिम्मत न होगी', इस प्रकार की भावनाएं इस संस्कार के पश्चात् विद्यार्थी के मन में उत्पन्न होती थीं। साहित्य के द्वारा भी प्रत्येक आश्रमधर्म के मूल में इसी तरह की भावना का पोषण होवे, इस निमित्त बारम्बार प्रयास किया जाता था। ब्रह्मचारी को प्रतिदिन सायंप्रातः हवन करना पड़ता था। इसका कारण बताते हुए गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है—**'ब्रह्म ह वै प्रजा मृत्यवे संप्रायच्छत् ब्रह्मचारिणमेव**

न संप्रददौ, स हो वाचास्यामस्मिन्निति किमिति यां रात्रिं समिधमनाहृत्य सायं प्रातः अग्निं परिचरेत्।' (गो. ब्रा. पूर्वभाग, द्वितीय प्रपाठक, ६) "परमेश्वर ने प्रजा को मृत्यु के अधीन कर दिया किन्तु ब्रह्मचारी मात्र को नहीं दिया। परमेश्वर ने मृत्यु से कहा कि जिस रात को यह अग्नि में समिधा का हवन न करे, उस रात को वह तेरे अधीन हो जायेगा। इस कारण ब्रह्मचारी को प्रतिदिन सायंप्रातः न चूकते हुए हवन के द्वारा अग्नि परिचर्या करनी चाहिए।" जीवन को उत्फुल्ल एवं तेजस्वी आकाँक्षाओं से परिपूर्ण करने की दृष्टि से आयुष्य के उषःकाल से ही तेज की उपासना करवाना तथा उसके द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है, यह भावना बाल मन में उत्पन्न करना कितना उपयोगी है यह सहज ही ध्यान में आने योग्य है। इस प्रथम उपनयन संस्कार के पश्चात् कुछ विशेष बातें सीखने के लिए ब्रह्मचारी को विशेष प्रकार के व्रत करने पड़ते थे। वैदिक शिक्षण पद्धति का यह मुख्य नियम था कि अनधिकारी व्यक्ति को मनचाही विद्या नहीं सिखानी चाहिए। इसीलिए उनका विद्यादान प्रत्यक्ष जीवन गठन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ। शिक्षण-मन्दिर के भिन्न भिन्न वर्गों में प्रवेश करते समय इस व्रतरूपी प्रवेशिका की आवश्यकता हुआ करती थी। उदाहरणार्थ, अश्वमेध सीखते समय आश्वमैधिक व्रत, आरण्यकों का अध्ययन करते समय व्रातिक व्रत तथा उपनिषदों का अनुशीलन करते समय रहस्यव्रत करना पड़ते थे।

उपाकर्म संस्कार

हम सर्वप्रथम समस्त संस्कारों का अवलोकन कर लें, तदनंतर शिक्षण-मंदिर की समग्र रचना का विचार करेंगे। उपनयन संस्कार के बाद का महत्वपूर्ण संस्कार उपाकर्म का है, जिसे श्रावणी भी कहते हैं। परन्तु आजकल श्रावणी के निमित्त पंचगव्य का प्राशन कर जनेऊ मात्र बदल लेने की प्रथा रह गई है। यह उसका विकृत स्वरूप है। उपाकर्म संस्कार का अर्थ जनेऊ बदलना नहीं है। वैदिक धर्मानुयायियों के अधिकांश व्रतों में यज्ञोपवीत, अजिन, दंड आदि बदले जाते थे; अतः उपाकर्म के समय भी यही बात होती थी। किन्तु केवल जनेऊ बदलना ही उपाकर्म था यह समझना भूल होगी। उपाकर्म एक सादी किन्तु शिक्षण शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण विधि थी, जो विद्यार्थी को अपने अध्यापक के साथ सम्पन्न करना पड़ती थी। विवाह के समय चूंकि वधू को नई व उत्कृष्ट साड़ी पहनाई जाती है इस कारण यदि कोई कहे कि साड़ी पहनाना ही बारात का मुख्य उद्देश्य है तो यह निरा हास्यास्पद ही होगा। ठीक उसी प्रकार जनेऊ बदलने को ही उपाकर्म का संस्कार बताना हास्यास्पद एवं असंगत है। '**समारब्धेषु**

अन्त्येवासिषु उपाकर्म कुर्वीत।' (बौधायन गृह्यसूत्र ३-१-३) **'अध्येष्यमाणः अध्याप्यैरन्वारब्धः उपाकर्म करोति।'** (आ० गृ० सू० ३,४,१०) गृह्यसूत्रों के उपयुक्त विधानों तथा पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार हरिहर के स्पष्टीकरण **'अतः अध्यापयतः अपि निरग्नेः साग्नेः अपि अनध्यापयतः उपाकर्मणि नाधिकारः।'** से उपाकर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वेदों का शिक्षण देने वाली संस्था का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ होते समय उपाकर्म की यह विधि की जाती थी। इस विधि के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् समस्त स्नातकों से यह अपेक्षा रहती थी कि वे प्रतिवर्ष वर्षाऋतु के चार मासों में वेदों तथा अन्य विषयों के पाठों को दुहरायेंगे। यहाँ यह एक स्वाभाविक शंका इस प्रकार की हो सकती है कि यदि यह विधि केवल गुरु व शिष्य तक ही सीमित थी तो फिर गुरुशिष्यों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का जीवन समाप्त कर भिन्न भिन्न उद्योग धंधों में निमग्न रहने वाले गृहस्थाश्रमी लोगों को इस विधि का बंधन क्यों रहता था? आजकल भी यह देखने में आता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि शास्त्रकारों द्वारा पूर्ण विचारोपरान्त मूलविधि में किया गया यह एक इष्ट सुधार है। आजकल हम देखते हैं कि एक बार पदवीधर होकर महाविद्यालय से बाहर आजाने के पश्चात् जब लोग अपने अपने काम-धंधों में लग जाते हैं तब अपनी पढ़ी हुई विद्या को प्रायः सभी भूल जाते हैं। वैदिक काल में भी इससे कोई भिन्न स्थिति रही होगी यह मानने का कोई कारण नहीं है। एक बड़ा अन्तर अवश्य है और वह है प्राचीन और अर्वाचीन विद्या के स्वरूप का। आजकल की विद्या में सुशिक्षित पदवीधर विषयों के केवल स्थूल प्रमेयों से ही अपना काम चला लेता है, किन्तु वेदों का अध्ययन करने वाले स्नातक के संबंध में यह बात नहीं थी। वेदाध्ययन में स्वर, वर्ण आदि की छोटी से छोटी गलती भी सहन नहीं की जाती थी। इस कारण बुद्धिमत्तापूर्वक यह योजना बनाई गई थी कि गृहस्थाश्रम में रहने वाला व्यक्ति नित्य प्रति पंचमहायज्ञ करते समय थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो, स्वाध्याय अवश्य करे। परन्तु दैनंदिन जीवन में इस स्वाध्याय की ऐसी दुर्दशा होती है व उसका स्वरूप इतना नाममात्र का हो जाता है कि विद्या को सतेज रखने की दृष्टि से उसका आवश्यकतानुरूप उपयोग नहीं हो पाता। इस कारण वेदमंत्रों का विस्मरण न हो तथा यातयामता अर्थात् दीर्घकाल तक दोहराये न जाने के कारण विद्या में जो एक जंग सी लग जाती है, वह दूर हो जाये, इस हेतु कुछ अन्य व्यवस्था करना आवश्यक था। इसी दृष्टि से उपाकर्म को सबके लिए अनिवार्य कर दिया गया ताकि इस कृषि प्रधान देश में, जहाँ वर्षाऋतु में विशेष व्यावसायिक कार्य नहीं रहता, समस्त स्नातक उन चार महीनों में वेदों का पुनर्वाचन कर लें। श्वेतकेतु ऋषि ने तो यहां तक कहा है कि इस काल में समस्त विवाहित मनुष्यों को कम से

कम दो महीने अवश्य ही गुरुगृह में रहना चाहिए (आपस्तंब धर्मसूत्र)। परन्तु प्रतिवर्ष गृहस्थी के आवश्यक कर्त्तव्य छोड़कर ब्रह्मचारी के समान दो महीने तक गुरुगृह में रहना सभी के लिए संभव नहीं हो पाता। यह जानकर आपस्तंब ऋषि ने श्वेतकेतु से अपना विरोध प्रगट किया और अंत में इस प्रकार का समझौता हुआ कि गुरुगृह जाने का बन्धन न रहे, पर उपाकर्म मात्र सब लोगों के लिए अनिवार्य कर दिया जाय, जिससे श्रावणी के पश्चात् चार महीने अपने घर पर ही विशेष लक्षपूर्वक अधिक समय देते हुए वे वेदों की पुनरावृत्ति करें व उसमें की यातयामता को दूर करें। मूलतः अध्यापन करने वाले गुरु तथा अध्ययन करने वाले शिष्य के लिए ही जिस उपाकर्म की योजना की गई थी, उस उपाकर्म को सबके लिए अनिवार्य बना देने का कारण इस प्रकार है।

इस उपाकर्म को श्रावणी क्यों कहा गया, इसका भी एक महत्वपूर्ण कारण है। आषाढ़, श्रावण या भाद्रपद पूर्णिमा को जब वर्षा होकर खेतों में अनाज उगने लगता था तब उपाकर्म का प्रारंभ करना होता था। कृषि प्रधान भारत में भिन्न भिन्न प्रान्तों में आषाढ़ से भाद्रपद के बीच भिन्न भिन्न समयों में वर्षा का प्रारंभ होता है। वर्षा की इस कालभिन्नता के कारण उपाकर्म के काल में भी विकल्प प्राप्त होता है। परन्तु सामान्यतः श्रावण का महीना बहुसंख्य लोगों के लिए सुविधा का होने के कारण इसी महीने में उपाकर्म किया जाने लगा। ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से भी वेदाध्ययन का श्रावण के महीने से विशेष संबंध है। श्रावण के महीने में हस्तनक्षत्र का देवता सविता है तथा वेदों के सर्वश्रेष्ठ गायत्री मंत्र का देवता भी सविता ही है। इस कारण इस प्रति-वार्षिक वेदाध्ययन के सामूहिक कार्यक्रम को श्रावण मास में हस्त नक्षत्र के दिन अर्थात् श्रावण शुद्ध पंचमी को करने की भी एक प्रथा पड़ गई। कुछ लोगों ने श्रावण मास के श्रवण नक्षत्र के दिन को वेदाध्ययन के लिए अच्छा मानकर श्रावणी पूर्णिमा को उपाकर्म के लिए योग्य माना। उपाकर्म का श्रावणी नाम इसी कारण पड़ा।

वैदिक काल में वेदों का अध्ययन ही प्रधान विषय होने के कारण ब्रह्मचारी के द्वारा किये जाने वाले उपाकर्म के समय वैदिक देवताओं के लिए हवन कर उनसे बुद्धि एवं धारणाशक्ति बढ़ाने के विषय में बारम्बार प्रार्थना की जाती थी। जिन मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन कर लोक कल्याणार्थ उनका प्रगटीकरण किया था, उनका भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण कर तथा उन्हें हवनादि समर्पित कर विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया जाता था। वेदों की भिन्न भिन्न शाखाएं होने के कारण द्रष्टा एवं देवताओं की भिन्नता उत्पन्न होकर प्रत्येक शाखा के लिए अलग अलग उपाकर्म की व्यवस्था थी। ऋग्वेद के उपा-

कर्म में सविता, श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा आदि देवताओं को हविर्भाग समर्पित करने के पश्चात् ऋग्वेद के दस मंडलों की पहली एवं अंतिम ऋचा कहकर उसके देवताओं व द्रष्टाओं को हविर्भाग समर्पित किया जाता था। यजुर्वेद यज्ञप्रधान होने के कारण यजुर्वेदी लोग उपाकर्म के समय पहले याज्ञिक व तत्पश्चात् संहिता के देवताओं को हविर्भाग समर्पित करते थे तथा इसके अनंतर यजुर्वेद संहिता के भिन्न भिन्न काण्डों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की प्रार्थना करते थे। फिर वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद व पंचमवेद अर्थात् इतिहास पुराणों को हविर्भाग प्रदान करते थे व तदनंतर जिन लोगों ने श्रेष्ठ ग्रन्थ व टीकाएं लिखकर यज्ञविषयक साहित्य की वृद्धि की है उन कृष्ण द्वैपायन, वैशंपायन, तित्तिरी, आत्रेय, कौंडिण्य, बोधायन, आपस्तंब, सत्याषाढ, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, अग्निवेश्य आदि ग्रंथकारों को कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम करते थे। सामवेद के उपाकर्म में जैमिनी, तवल्कार, राणायनि, भागुरी आदि सामवेदीय ग्रंथकारों को हविर्भाग समर्पित किया जाता था तथा पश्चात् गुरु व शिष्य दोनों ऐसी प्रार्थना कर कि हमारे द्वारा अध्ययन का कार्य एकान्तिक निष्ठा से हो, अध्ययन का प्रारम्भ करते थे। समस्त विद्या की पुनरावृत्ति करने की उपाकर्म की मुख्य कल्पना तो विद्योपासना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ही, परन्तु उसमें साथ ही साथ ज्ञानसम्पत्ति में वृद्धि करने वाले उन श्रेष्ठ ग्रंथकारों का, जिनके साहित्य का अध्ययन व अध्यापन करना है, कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने की कल्पना और भी अधिक उदात्त एवं श्रेष्ठ है ! आज भी यदि कुछ भिन्न पद्धति से इसी कल्पना का तथा विद्या सतेज करने के लिए पाठ दोहराने की प्रथा का धर्म अथवा कर्तव्यकर्म के नाते अंगीकार किया जाय तो उससे पर्याप्त मात्रा में मनोवाञ्छित लाभ हो सकता है।

उत्सर्जन संस्कार

उपाकर्म के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम का महत्वपूर्ण संस्कार है उत्सर्जन का। पुनर्वाचन के वार्षिक अधिवेशन की समाप्ति के समय यह संस्कार किया जाता था। उत्सर्जन संस्कार की विधि भी उपाकर्म जैसी ही है। अधिवेशन के प्रारंभ में जिस प्रकार देवताओं एवं ग्रंथकारों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाता था, उसी प्रकार अधिवेशन की समाप्ति के समय भी उत्सर्जन संस्कार के रूप में उसे करते थे। आज तो इस संस्कार का स्वरूप नाममात्र का रह गया है। मूल वेदाध्ययन व उसके पुनर्वाचन से आज के उपाकर्म संस्कार का कोई संबंध न रहने के कारण केवल प्रथा जीवित रखने के लिए उपाकर्म व उत्सर्जन के संस्कार एक ही दिन जैसे तैसे निबटा लिए जाते हैं।

समावर्तन संस्कार

इसके पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम का सबसे अधिक महत्व का तथा अंतिम

संस्कार आता है समावर्तन का। वेदाध्ययन समाप्त कर तथा समस्त विद्याओं में पारंगत होकर जब शिष्य सद्गुरु के आश्रम से अपने घर जाने के लिए उद्यत होता था, तब उसे इस समावर्तन संस्कार के द्वारा विदाई दी जाती थी। आजकल जिसे मराठी में 'सोडमुंज' कहते हैं वही यह समावर्तन संस्कार है। आज तो उसका स्वरूप केवल विदूषकी मूर्खता का रह गया है और उसके संबंध में समाज में यही धारणा प्रचलित है कि उस संस्कार को केवल इसलिए करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना विवाह नहीं हो सकता। परन्तु पूर्व काल में चाहे जिस व्यक्ति का समावर्तन नहीं किया जाता था। आजकल के दीक्षान्त समारंभ के समान ही परन्तु धार्मिक नींव पर आधारित यह समावर्तन संस्कार होता था। आजकल जिस प्रकार विशिष्ट पदवी प्राप्त करने वाले व्यक्ति ही पदवीदान समारंभ में भाग ले सकते हैं तथा जिन्होंने वे पदवियाँ प्राप्त नहीं की हैं उन्हें वहाँ प्रवेश नहीं मिलता, उसी प्रकार वैदिक काल में भी केवल उन्हीं लोगों का समावर्तन किया जाता था जिन्होंने वेदाध्ययन पूर्ण कर लिया होता था। एक गृह्यसूत्रकार ने तो यहाँ तक कहा है कि केवल वेदपाठी हो जाने मात्र से समावर्तन का अधिकार प्राप्त नहीं होता, अपितु उसके लिए ब्रह्मचारी में सम्पूर्ण वेद का अर्थ बताने की पात्रता भी होनी चाहिए। आगे चलकर उपनयन के समान ही यह संस्कार भी एक शारीरिक संस्कार बन गया तथा सबका समावर्तन होने लगा। किंतु फिर भी इस संबंध में स्मृतिकारों ने जो अनेक पर्याय बताये, उन्हें देखने पर समावर्तन का स्वरूप सहज ही ध्यान में आ सकता है। स्मृतिकारों की अपेक्षा है कि यदि विद्यार्थी संपूर्ण वेदों का अर्थ नहीं बतला सकता तो कम से कम उसे वेदपाठ करते आना चाहिए, यह भी यदि न हो तो निदान आंशिक वेदपाठ तो करते बनना ही चाहिए, किंतु यदि इसका भी अभाव हो तो कम से कम इतना तो अवश्य ही चाहिए कि उसने ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन किया हो। ये सारी बातें ब्रह्मचर्याश्रम की हैं। किंतु इसके बाद का आश्रम गृहस्थाश्रम तथा संस्कार विवाह का होने के कारण समावर्तन विवाह के पूर्व किया जाने वाला आवश्यक शारीरिक संस्कार बन गया। समावर्तन का संस्कार अध्ययन की समाप्ति पर ही किया जाता था और अध्ययन पूर्ण करना प्रत्येक की अपनी धारणाशक्ति पर अवलम्बित होने के कारण अमुक वर्ष में ही समावर्तन होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं था और न हो ही सकता था। सामान्यतः बीस से चौबीस साल की आयु में इस संस्कार का अवसर आता था। स्वभावतः ही तब तक तरुण ब्रह्मचारी की दाढ़ी बढ़ी हुई होती थी। कम से कम बारह वर्ष तक तो ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य ही होना चाहिए, ऐसी शास्त्रकारों ने अपेक्षा की है। 'गोदान' नामक संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी की दाढ़ी बनाई जाती थी। तत्पश्चात् खास समावर्तन के समय विभिन्न प्रकार की विधियाँ की जाती

थीं। समावर्तन की प्रारंभिक विधियों को देखने से यह स्पष्ट ध्यान में आ जाता है कि भारतीय द्रष्टाओं को विद्या एवं विद्यार्जन की महत्ता कितनी अधिक प्रतीत होती थी। समावर्तन के दिन दोपहर तक ब्रह्मचारी को उसके कमरे में ही रखा जाता था तथा दोपहर होने पर उसे बाहर लाया जाता था। यह एक युक्ति थी जिसके द्वारा तपस्या के पुंज तथा कृतविद्य ब्रह्मचारी की महत्ता उन विद्यार्थियों के मन पर अंकित की जाती थी, जिनका अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं हुआ होता था। भारद्वाज गृह्यसूत्र में कहा है—**'एत ह स्नातानाम् अ वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहनाभिनपेत्।'** "प्रातःकाल के समय सूर्यनारायण का तेज मंद रहता है, इस कारण उस समय विद्या एवं तप के उग्र प्रकाश से युक्त ब्रह्मचारी को सवितादेव के सामने नहीं आना चाहिए, क्योंकि उससे सवितादेव का अपमान होगा।" कमरे से बाहर न आने का यही आशय है। तपस्तेज की महत्ता के संबंध में यह कितनी उच्च धारणा है! दोपहर के समय कमरे से बाहर आने के पश्चात् मुखमार्जन आदि से निवृत्त होकर उस कृतविद्य ब्रह्मचारी को मेखला, अजिन, दंड आदि ब्रह्मचर्य-व्रत के चिह्नों का विधिपूर्वक परित्याग करना होता था। और तब कृतविद्य हो जाने के कारण असिधाराव्रत व माला, अलंकार, छत्री आदि का प्रयोग न करने के सारे ही उग्र नियम तब समाप्त हो जाते थे। ब्रह्मचर्यव्रत धारण के समय तक जो आचार्य सुगंधित उष्ण पानी से स्नान का निषेध किया करता था, वही अब समावर्तन के समय अपने हाथों से कृतविद्य ब्रह्मचारी को उष्ण सुगंधित पानी से स्नान करवाता था। इसके अनंतर गुरु स्वतः शिष्य को नवीन वेष, अलंकार, पुष्पमाला, जूते व छाता, जो आज तक उसे वर्ज्य थे, पहनने के लिए देता था। तत्पश्चात् अग्नि में होम कर, इस अपेक्षा से कि स्नातक गुरु के अध्यापनकार्य को आगे चलायेगा, ऐसी प्रार्थना की जाती थी कि उसे खूब विद्यार्थी प्राप्त होवें। उसी समय स्नातक को मधुपर्क अर्पित किया जाता था। इसके बाद नवीन परिधान से आच्छादित तथा मालादिकों से विभूषित स्नातक को रथ या हाथी के ऊपर बैठाकर गुरु स्वतः ही पंडित परिषद् में ले जाता था। कृतविद्य तथा अपनी बराबरी का पंडित इस नाते से उसका पंडित परिषद् में परिचय कराये जाने के पश्चात् वह परिषद् समाप्त होती थी। यह बैठक केवल परिचयात्मक ही होती थी।

सैन्य प्रशिक्षण

वेदाध्ययन के समान ही धनुर्वेद व आयुर्वेद के लिए भी भिन्न-भिन्न उपनयन संस्कार होते थे और उन उन विषयों का अध्ययन समाप्त होने के पश्चात् तत्तत्संबंधी समावर्तन संस्कार भी होते थे। धनुर्वेद अर्थात् सैन्य प्रशिक्षण के समारंभ के समय किये जाने वाले उपनयन में विद्यार्थी के हाथ

में यदि वह ब्राह्मण हो तो धनुष, क्षत्रिय हो तो खड्ग, वैश्य हो तो भाला व यदि शूद्र हो तो गदा दी जाती थी। वेदाध्ययन का अधिकार तो त्रैवर्णिकों को ही रहता था। किन्तु धनुर्वेद व आयुर्वेद के अध्ययन और इसलिए तत्संबंधी उपनयन का अधिकार चारों ही वर्णों को अर्थात् समग्र समाज को रहता था। इस संबंध में एक उदात्त बात कथनीय है। प्रत्येक अध्ययन के समय गुरु शिष्य से कहा करता था कि मुझे जो जो कुछ ज्ञात है सब तुझे बताऊंगा, कुछ भी बचाकर नहीं रखूंगा। 'जिनने पाई उनने छिपाई' ऐसी ओछी मनोवृत्ति उस समय किंचित् भी नहीं थी। सैन्य अथवा धनुर्वेद के शिक्षण की समाप्ति के पश्चात् भी इसी प्रकार का समावर्तन संस्कार किया जाता था व उसे छुरिका बंधन कहा जाता था। सैनिक शिक्षण समाप्त हो जाने के पश्चात् किसी शुभ दिन इष्ट देवताओं का पूजन कर गुरु विद्यार्थी की कमर में एक तलवार बांधता था व इस खड्गबंधन के पश्चात् उस विद्यार्थी का शिक्षण समाप्त हुआ समझा जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी तक राजपूताना के समस्त कुलीन घरानों में इस संस्कार का प्रचार था। राजपूताना की लोक-भाषा में इस संस्कार को 'खरगबन्धाई' कहा करते थे तथा यह संस्कार विवाह के पहले शिक्षण की समाप्ति पर हुआ करता था। इससे यह स्पष्ट है कि वह समावर्तन संस्कार ही था। एक प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि क्या ऋग्वेद काल में सैन्य प्रशिक्षण था ? किन्तु ऋग्वेद का वाचन करने से ही हम समझ सकते हैं कि यदि वेदकाल में सैन्य प्रशिक्षण न होता तो अनेक बातों की उपपत्ति ही प्राप्त न होती। सैनिक लोग देह पर अँगरखा पहन कर उस पर आवश्यकतानुसार कवच व सिर के ऊपर शिरस्त्राण पहना करते थे। यही नहीं, ऋग्वेद में तो मरुतों की सेना का कंधों पर भाले रख-कर विशेष व्यवस्था से कूच करने का भी वर्णन है जिससे पता चलता है कि उस समय भी आजकल की कवायद के समान ही पैदल सैनिकों के लिए व्यवस्थित रूप से पैर मिलाकर चलने की कोई पद्धति रही होगी। और चूंकि विद्या में ही सैनिक शिक्षण का भी अंतर्भाव हुआ करता था इस कारण इस प्रकार के समावर्तन संस्कारों का होना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है।

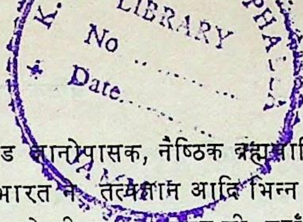
नियम-उपनियम

इस प्रकार शिक्षण शास्त्र की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम के संस्कारों का भली प्रकार से विचार कर लेने के पश्चात् अब उस आश्रम के समस्त नियम, रहने की पद्धति, अभ्यास के विषय आदि बातें भी देखना आवश्यक है। सामान्यतः बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ऐसा विधान है तथा छांदोग्योपनिषद् में वर्णन है कि श्वेतकेतु ने बारह वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य का पालन किया था। कुछ नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऐसे भी होते थे जो दीर्घकाल

तक अथवा सदा के लिए ही ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। परन्तु जिन्हें सर्वमान्य जीवन का अंगीकर करना होता था उन लोगों के संबंध में वैदिक लोगों की यह धारणा थी कि वे बारह वर्ष तक ही ब्रह्मचर्य का पालन करें तथा व्यर्थ ही इस काल को बढ़ाकर अपने कौटुम्बिक दायित्व की ओर दुर्लक्ष न करें। प्रत्येक मनुष्य ऋषिऋण, पितृऋण व देवऋण के साथ ही जन्म लेता है। इनमें से ऋषिऋण ब्रह्मचारी को अध्ययन के द्वारा तथा पितृऋण विवाह करके संतति के द्वारा चुकाना पड़ता है। तीस चालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर फिर पितृऋण चुकाने के लिए खटपट करना हास्यास्पद तो है ही, शुक्राचार्य के मतानुसार दंडार्ह भी है। अग्निहोत्र कब लेना चाहिए इस संबंध में वेदों में कहा है कि **'जातुपुत्रः कृष्णकेशः अग्निनादधीत'**, अर्थात् पुत्र होने पर, बाल काले रहते समय ही अग्निहोत्र लेना चाहिए। वैदिक धर्म के अनुसार अग्निहोत्र इतनी महत्वपूर्ण संस्था है कि उसके बिना सप्तसोम संस्था का तथा देवऋण चुकाने के लिए आवश्यक यज्ञयागादि का अधिकार ही प्राप्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विचार करने पर **'जातुपुत्रः'** तथा **'कृष्णकेशः'** शब्दों से यही बात निष्पन्न होती है कि सामान्यतः चौबीसवें या पच्चीसवें वर्ष में ब्रह्मचर्य का काल समाप्त होता होगा। ऐसे कुछ श्रेष्ठ पुरुष अवश्य हुआ करते थे जो वास्तव में अंतःकरणपूर्वक संसार से विरक्त रहते थे। वे मात्र जन्मभर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान, धर्माचरण व तत्वचिंतन में अपना संपूर्ण आयुष्य व्यतीत किया करते थे। उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। निष्ठा याने मरण व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य याने आमरणान्त ब्रह्मचर्य का पालन। कुछ लोगों की यह विचित्र धारणा बन गई है कि वैदिक काल में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रूढ़ नहीं था और न ही उसे श्रेष्ठ माना जाता था। **'वीरहा वैष भवति यः अग्निमुत्सादयति,'** "जो लोग विवाह करके अग्निपरिचर्या में जीवन नहीं लगाते उन्हें वीरहत्या का पाप लगता है" इस प्रकार के वेद वाक्यों के आधार पर उन लोगों ने अपनी यह भोली धारणा बना ली है कि विवाह करके अग्नि परिचर्या में जीवन बिताने को ही पुरुषार्थ समझने वाले वैदिक लोगों को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कभी भी सम्मत नहीं हो सकता था। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जोर विवाह पर नहीं अपितु इस बात पर है कि सर्वसामान्य जीवन में विवाह अग्निपरिचर्या युक्त ही होना चाहिए। उत्तरकालीन साहित्य में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के संबंध में कुछ विचित्र विधान दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—

पङ्ग्वादीनामनंशत्वादसामर्थ्याच्च शास्त्रतः।
नियतं नैष्ठिकत्वं स्यात् स्वकर्मस्वनधिकारतः॥
कुब्ज वामनजात्यंधक्लीबपङ्ग्वार्तरोगिणाम्।
व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः॥

"गूंगे, अंधे, बहरे, क्लीव, हिजड़े आदि अपने असामर्थ्य के कारण तथा उनके विवाह की संभावना ही न होने के कारण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करें।" परन्तु इन सुभाषित जैसे संस्कृत वचनों का धर्मशास्त्र व वैदिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। उनसे केवल लेखक की कामलंपटता तथा वैदिक धर्म की रचना के संबंध में अनभिज्ञता मात्र प्रगट होती है। दरिद्र व्यक्ति के उपवास के समान ही क्लीव व अंधों के ब्रह्मचर्य का कोई अर्थ नहीं है और न ही उन्हें कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानता है। **"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"** जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उस दिन ब्रह्मचर्याश्रम से भी सीधा सन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए, ऐसा वैदिक संस्कृति का कथन है एवं उसकी धारणा है कि विवाह व गृहस्थाश्रम भी एक व्रत ही हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि गृहस्थाश्रम के वातावरण में रहना याने किले में रहकर शत्रु से लड़ना है। खुले मैदान में शत्रु से लोहा लेना कठिन अवश्य है और उस मान से किले में रहकर शत्रु से लड़ना कम धोखे का एवं अधिक सुरक्षितता का है, परन्तु खुले मैदान में रहकर समस्त आपत्तियों से टक्कर लेकर जो उसमें विजयी होता है उसकी खिल्ली उड़ाना कदापि योग्य नहीं। बल्कि उसका तो अधिक आदर किया जाना चाहिए। जगद्गुरु शंकराचार्य व उनसे भी पूर्व देवव्रत भीष्म से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की जो श्रेष्ठ परम्परा वैदिक धर्म में दृष्टिगोचर होती है वह क्या दर्शाती है ? पुराण व इतिहास साहित्य से तो यही दिखाई देता है कि अधिकांश ऋषि नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही थे। उस सिरफिरे सुभाषितकार को मात्र इस परम्परा का ज्ञान नहीं था। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का ध्येय भी सन्यासी के समान मोक्ष ही है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी ध्यान धारणादि साधनों के साथ साथ वैदिक अध्ययन अध्यापन भी साधन मानकर ही करता था। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अंत तक गुरु के पास, अथवा यदि गुरु दिवंगत हो जायँ तो गुरुपुत्र के पास रहता था तथा कभी कभी कण्व, वाल्मीकि के समान आश्रमरूपी विद्यापीठ का संचालक बनकर तपस्या व विद्याध्ययन में अपना जीवन व्यतीत करता था। यु आन च्वांग नाम के चीनी प्रवासी ने भारत के इन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के संबंध में लिखा है कि, "समाज उन्हें अत्यंत पूज्य मानता था परन्तु वे समाज में अधिक घुलते मिलते नहीं थे। कोई स्तुति करता है या निंदा, इस पर उनका बिलकुल भी ध्यान नहीं रहता था। इस बारे में वे बिलकुल स्थितप्रज्ञ होते थे। अखंड ज्ञानोपासना ही उनका एकमेव ध्येय रहता था। आवश्यकता पड़ने पर महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए अथवा ज्ञानार्जनास्तव वे दो-दो सौ मील तक का पैदल प्रवास भी अतिशय आनन्दपूर्वक किया करते थे। अपनी खुशी से स्वीकृत किए हुए निष्कांचनत्व को वे दूषण नहीं, भूषण मानते थे। तत्वज्ञान के सामने उन्हें अन्य किसी वस्तु की परवाह नहीं रहती थी।"



इस प्रकार के अखंड ज्ञानोपासक, नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के परिश्रम के कारण ही जहाँ एक ओर भारत ने तत्वज्ञान आदि भिन्न भिन्न ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में विश्व का गुरु बनने की पात्रता प्राप्त की, वहाँ दूसरी ओर प्रत्यक्ष तत्वज्ञान एवं सांस्कृतिक जीवनमूल्यों को अपने जीवन में उतारकर आदर्श जीवन व्यतीत करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की परम्परा भी राष्ट्र में उत्पन्न हुई; जिसके कारण लोगों का शीलचारित्र्य का स्तर इतनी श्रेष्ठता तक पहुँचा कि परकीयों एवं शत्रुओं ने भी उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

दिनचर्या

ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाले विद्यार्थी ब्राह्ममुहूर्त में सोकर उठते थे। शौच-मुखमार्जन के पश्चात् प्रातः स्नान से निवृत्त होकर अग्निपरिचर्या में लग जाना उनका नित्य का महत्वपूर्ण कार्यक्रम था। अग्निहोत्र सर्वत्र प्रचलित था तथा सायंप्रातः अग्निपरिचर्या करना जीवन का आवश्यक भाग समझा जाता था। एतत्संबंधी गोपथ ब्राह्मण के वचनों का पहले उल्लेख किया ही है। होम संध्यादि धार्मिक कृत्यों की समाप्ति के पश्चात् दोपहर के भोजन के समय तक अखंड अध्ययन चलता था। तत्पश्चात् भोजन व कुछ विश्रान्ति लेकर विद्यार्थी पुनः सायंकाल तक अध्ययन में लग जाते थे। तदनंतर वेद व उपनिषद् काल के ये तपस्वी विद्यार्थी सब मिलकर समिधा लाने के लिए अरण्य में जाते थे। उस समय इन समवयस्क विद्यार्थियों में आपस में हास्य विनोद होना स्वाभाविक ही था। सूर्यास्त के अनन्तर संध्यावंदन एवं अग्निपरिचर्या कर भोजनोत्तर चिंतनिका के पश्चात् ये विद्यार्थी विश्रान्ति लेते थे। यह सच है कि उनकी इस प्रकार की दिनचर्या का पता उत्तरकालीन बौद्धजातकादि ग्रंथों से मिलता है, किंतु वैदिक काल में इससे कोई भिन्न दिनचर्या रही होगी ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिखता। ऋषियों के आश्रमों में साधारणतः यही दिनचर्या रहा करती थी।

भिक्षाटन

ऋषियों के आश्रमों में राजा से लेकर रंक तक सबके लड़के पढ़ने आते थे। इस कारण सभी को समानता के वातावरण में रहने को मिलता था, जिसके कारण उनके अंतःकरणों पर समानता के संस्कारों की अमिट छाप पड़ती थी। अपने अपने घरों में राजा या रंक, धनाढ्य वैश्य अथवा सद्गृहस्थों के लड़के किसी भी अवस्था में क्यों न रहते हों किंतु सद्गुरु के आश्रम में सब एक ही ढंग से रहें, इस बात का बड़ा ध्यान रखा जाता था। इस कारण भौतिकता पर आधारित वैषम्य के संस्कारों का वहाँ लेश भी नहीं था और सभी को समान ढंग का, समान रूप से नियंत्रित एवं संयमित जीवन बिताना

पड़ता था। परिणामतः उनमें बंधुत्व का सुमधुर नाता, सुयोग्य अनुशासनबद्ध एवं पवित्र जीवनक्रम तथा समान आदर्श उत्पन्न हुआ करते थे। गुरुगृह अर्थात् आश्रम में ही रहने का आग्रह होने के कारण तथा वहाँ की पद्धति के अनुसार ही जीवन बिताना आवश्यक होने के कारण किसी भी प्रकार के कुसंस्कार की संभावना वहाँ नहीं थी। जैसे उदाहरण के लिए, सभी भिक्षा माँगकर लायें ऐसा नियम था। अथर्ववेद का एतत्संबंधी उल्लेख ब्रह्मचारी के अथर्ववेद में उल्लिखित वर्णन में पहले आया ही है। गोपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि ब्रह्मचारी को भिक्षा माँगना चाहिए। गोपथ ब्राह्मण कहता है—**"ते देवा अब्रुवन् ब्राह्मणो वा अयं ब्रह्मचर्यं चरिष्यति ब्रूतास्मै भिक्षा इति।"** "देवों ने कहा कि यदि यह ब्राह्मण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है तो इसे भिक्षा माँगने के लिए कहना चाहिए।" आगे चलकर मनुस्मृति आदि ग्रंथों में ही नहीं अपितु उनसे भी अर्वाचीन माने जाने वाले भागवतादि पुराण ग्रंथों में भी भिक्षाचरण के नियम प्राप्त होते हैं। अत्रि ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है कि **"शाकभक्षाः पयोभक्षा ये चान्ये यावशाकितः। ते सर्वे भैक्ष्यभिक्षस्य कलां नार्हन्ति षोऽशीम् ॥"** अर्थात्, "एक ही भाजी खाकर रहना या केवल दूध पीकर रहना अथवा अन्य किसी प्रकार का खाने पीने का नियम बनाना—इन सबसे भिक्षान्न माँगना सर्वश्रेष्ठ है। अन्य खाने पीने के नियम उसकी सोलहवीं कला की बराबरी भी नहीं कर सकते।" जो विद्यार्थी सप्ताह में एक दिन भी भिक्षा नहीं माँगता उसके लिए गोपथ ब्राह्मण तथा बौधायन धर्मसूत्र में प्रायश्चित्त बताया गया है। केवल बहुत छोटे बालकों को ही गुरुगृह में भोजन मिलता था। बारहवाँ वर्ष समाप्त होते ही उनको भी भैक्ष्यचर्या करनी पड़ती थी। गृह्यसूत्र के आगे के उल्लेखों में तथा मनुस्मृति में भी यह लिखा है कि धनी माता पिता पहले ही से गुरु के गृह में सहायता पहुँचा दिया करते थे तथा कई विद्यार्थी आचार्य के घर में भी भोजन करते थे। भैक्ष्यचर्या की इस पद्धति से गरीबों को बड़ा लाभ हुआ करता था। गरीबी के कारण किसी का शिक्षण रुक जाए यह बात भारतीय संस्कृति में हेय मानी गई है। शिक्षण निःशुल्क होता था। पैसे लेकर शिक्षण देना निम्न कोटि का ही नहीं, निन्दास्पद भी माना जाता था। यही कारण था कि प्राचीन भारतीय शिक्षण शास्त्रज्ञों ने भिक्षा माँगने को विद्यार्थियों का कर्त्तव्य ही बना दिया था, जिससे गरीब से गरीब विद्यार्थी के शिक्षण में भी अन्नाभाव के कारण किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। उसी प्रकार धनी विद्यार्थियों को भी धर्मकर्तव्य के नाते सप्ताह में कम से कम एक बार भिक्षाटन के लिए भेजा जाता था, ताकि उन्हें भी गरीबी की योग्य कल्पना आ जाए और वे यह अच्छी तरह समझ जाएँ कि विद्या का मूल्यांकन केवल गुरुदक्षिणा से नहीं किया जा सकता। समाज के लिए भी आर्थिक सहायता प्रदान करने की

अपेक्षा भिक्षा प्रदान करना अधिक सुभीते का था। विद्यार्जन सरीखे पवित्र कार्य में अपना जीवन लगाने वाले विद्यार्थियों को धन की अपेक्षा स्वतः खाये जाने वाले अन्न में से एक भाग देना सभी को सहजसाध्य व पसन्द आने वाला था। केवल धनाभाव के कारण किसी बुद्धिमान् तथा प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी को शिक्षण की संधि प्राप्त न हो, यह राष्ट्र की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक था। विद्यार्थियों द्वारा किये जाने वाले भिक्षाचरण के द्वारा समाज का लक्ष्य भी अपने स्वतः के कर्तव्य की ओर अभिमुख करने का हेतु सिद्ध हो जाता था। घर में दोपहर के समय अनायास ही तैयार हुए अन्न में से, स्वयं को किसी प्रकार का कष्ट न होने पर भी जो विद्यार्थी को कुछ भाग देने से इनकार करता है उसका समस्त पुण्य नष्ट हो जाता है, ऐसा धर्मशास्त्रों ने सभी लोगों के लिए निर्देश किया है। **"स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणां समादितो ब्रह्मचारी इष्टं दत्तं हुतं प्रजां पशुं ब्रह्मवर्चसं अन्नाद्यं वृङ्क्ते"** (आ० ध० सू० १. १. ३. २४) "भिक्षाटन के लिए गए हुए ब्रह्मचारी को जिस घर की स्त्रियाँ भिक्षा प्रदान न कर झिड़क देती हैं, उनके घर से वह ब्रह्मचारी इष्ट, दान, हवनादि कर्मों से प्राप्त हुआ पुण्य तथा प्रजा, पशु व ब्रह्मवर्चस अपहृत करके ले जाता है।" गोपथ ब्राह्मण में भी कहा है—**"गृहपतिर्ब्रूत बहुचारी गृहपत्न्या इति किमस्या वृञ्जोता ददत्या इति इष्टापूर्तं सुकृतद्रविणमवरुन्धादिति तस्माद् ब्रह्मचारिणे अहरहः भिक्षां दद्यात् गृहिणी मामेयुरिष्टापूर्तं सुकृतद्रविणमवरुन्धादिति।"** अर्थात् "गृहपति को गृहिणी से कहना चाहिए कि ब्रह्मचारी यदि वैसा ही लौट जायेगा तो हमारा सारा पुण्य साथ ले जायेगा। इसलिए उसको भिक्षा देना तथा उसके द्वारा स्वयं का कल्याण कर लेना अपना कर्तव्य है।" यह भी नियम था कि ब्रह्मचारी को आवश्यकता से अधिक अन्न नहीं माँगना चाहिए। मनु ने कहा है—

आहारादधिकं वर्णी न क्वचित् भैक्ष्यमाचरेत्।
युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिकमाहरन्॥

"अपनी आवश्यकता से अधिक ब्रह्मचारी को नहीं माँगना चाहिए। अन्यथा उसे चोरी का पाप लगेगा।" ब्रह्मचर्य एवं विद्याध्ययन के काल की समाप्ति पर फिर उसे भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं रहता था। उसे फिर अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ता था। दारिद्र्य के कारण विद्यार्जन में किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो इसलिए जहाँ यह विधान बना था कि विद्यार्थी को भिक्षा माँगना चाहिए, वहाँ यह भी विधान था कि विद्यार्जन की समाप्ति के पश्चात् उसे स्वतः के पैरों पर खड़े होना चाहिए। इसीलिए बौधायन ने कहा है—**"समावृत्तस्य भिक्षा अशुचिकरा"** अर्थात् जिसका समावर्तन हो चुका है वह यदि भिक्षा माँगता है तो उसका पावित्र्य नष्ट हो जाता

है। ब्रह्मचारी को जिन नियमों का पालन करना होता था उनका अथर्ववेद में हुआ उल्लेख हमने पहले देखा ही है। गोपथ ब्राह्मण में उस संबंध में कहा है—"**नोपरिशायी स्यान्नगायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेत्।**" इसी नियम का विस्तार मनुयाज्ञवल्क्यादिकों से लेकर पुराणादिकों तक किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। गुरुजन, माता पिता, वृद्ध व श्रेष्ठ जनों को देवतास्वरूप मानकर उसे उनके साथ नम्रतापूर्वक व्यवहार करना होता था। झूठ बोलना, चारित्र्य भ्रष्ट होना, चुगलखोरी करना, कुसंगति में रहना आदि बातों से अलिप्त रहने पर जोर दिया जाता था तथा सादा जीवन व्यतीत करने का महत्व विद्यार्थियों के मनों पर बिंबित करने का विशेष प्रयास किया जाता था। आभूषणादि की शारीरिक शौकीनी से उन्हें दूर रहने के लिए कहा जाता था तथा रज-तमोगुण उत्पन्न करने वाले सुस्वादु पदार्थों तथा मांसादि के जिह्वा-लौल्यों से दूर रहने पर जोर दिया जाता था। ब्रह्मचारी का शरीर हर परि-स्थिति में टिक सके तथा शीतोष्णादि ऋतुओं में होने वाले जलवायु के परि-वर्तनों को सहन करने में सक्षम हो सके, इसलिए जूते, छाते आदि के उपयोग की उसे मनाई थी। परन्तु सर्वाधिक जोर पावित्र्य, सत्यनिष्ठा एवं चारित्र्य की वृद्धि पर दिया जाता था। इन बातों की रचना करते समय मन पर होने वाले संस्कारों का विशेष रीति से विचार किया गया है। मनुयाज्ञवल्क्यादि ऋषियों ने ब्रह्मचारी के दैनंदिन जीवन का जो चित्र खींचा है उसमें तथा अथर्ववेदादि साहित्य में दृष्टिगोचर होने वाले चित्र में कोई भिन्नता नहीं है। वेदों में सूत्ररूप में जो प्राप्त होता है, उसी का विस्तार मनु याज्ञवल्क्य आदि ने किया है और इस कारण उनका चित्रण अधिकृत रूप से वैदिक संस्कृति का ही है। वह चित्रण निम्नानुसार है—

"ब्रह्मचारी नियमानुसार संध्योपासना व अग्निकार्य करे। तदनंतर गुरु एवं समस्त श्रेष्ठ जनों को अपना नाम बताकर वंदन करे। अध्ययन के विषय में सदैव सजग रहे। ऐसी सन्नद्धता रखे कि गुरु के बुलाते ही अध्ययन के लिए तुरंत जा सके। उनकी आज्ञा हो तो अध्ययन का प्रारंभ करे। स्वत: होकर यह न कहे कि मुझे पढ़ाइये। उसने स्वयं जो अध्ययन किया हो उसको उन्हें सुनाये तथा मन, वाणी व शरीर से उनका हितचिंतन करे। स्वत: के प्रति किये गये उपकारों को न भूलनेवाला, शरीर व मन से पवित्र, शारीरिक पीड़ा व मानसिक व्यथा से रहित, दूसरों के दोषों का बखान न कर उनके गुणमात्र प्रगट करने वाला, आचरणसम्पन्न व अपने कर्तव्यकर्म करने में तथा अनुशासन-बद्ध रहने में समर्थ जो शिष्य हो, उसे गुरु विद्या सिखावे। दंड अजिन, उपवीत मेखला आदि चिह्नों को ब्रह्मचारी नित्य धारण करे तथा शुद्धाचरणी लोगों के घर में ही भिक्षा माँगने जाये। अपने तथा आचार्य, आचार्यपत्नी एवं आचार्य-पुत्र के सिवाय अन्य किसी के लिए भी ब्रह्मचारी भिक्षा न माँगे। भिक्षा लाने

के पश्चात् उसे गुरु को समर्पित करे तथा उनकी आज्ञा होने पर मौन धारण-कर, अन्न की निन्दा न कर सत्कार करते हुए आपोषणपूर्वक भोजन ग्रहण करे। ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाला व्यक्ति यदि रोग पीड़ित नहीं है तो उस अवस्था में वह एक ही के घर का अन्न न खाये। श्राद्ध में जाने का प्रसंग आने पर मधु व मांस वर्जित कर भोजन करे। हिंसायुक्त, उच्छिष्ट व मांसयुक्त भोजन न करे। निष्ठुर, स्त्री-विषयक, हिंसाप्रवृत्ति को उत्तेजन देने वाले, दूसरों के दोषवर्णनों से युक्त, अश्लील, असत्य आदि वचन न बोले। देह में उबटन लगाना, शरीर सजाना, जूते व छाते का उपयोग करना, काम क्रोधादि विकारों के वशीभूत होना, संगीत, वाद्यवादन के नाद तथा नृत्यादिक में मग्न रहना आदि बातें ब्रह्मचारी को वर्ज्य समझना चाहिए।" यह सत्य है कि स्वच्छता के लिए तथा रुक्षता दूर करने के लिए आचार्य प्रसंग प्रसंग पर विद्यार्थियों को तैलादिक का उपयोग करने देते थे तथा आवश्यकतानुरूप जूते व छाते का उपयोग करने के लिए भी कहते थे, पर मुख्य लक्ष्य इस बात पर था कि ब्रह्मचारी का जीवन इन बातों के अधीन न रहे। परन्तु इस आधार पर "हिस्ट्री आफ एज्युकेशन इन इंडिया" सरीखे ग्रंथों में जो यह लिखा गया है कि हिंदु विद्यार्थी का जीवन कठिन वनवास का जीवन था, वह अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस संबंध में प्राध्यापक अ० स० आलतेकर का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि देश कालानुरूप जो परिवर्तन आवश्यक थे उनका स्मृतिकारों ने विवेचन नहीं किया है, क्योंकि उन्हें शायद यह लगा होगा कि इसके कारण विद्यार्थी का ध्यान नियमों की अपेक्षा अपवादों की ओर ही अधिक जाएगा; किन्तु समस्त उपलब्ध प्रमाणों का विचार करने पर यह दिखाई देता है कि ब्रह्मचारी भले ही चैन की वंशी न बजा पाता हो किन्तु अपना ब्रह्मचर्यकाल समाधान एवं आनंदपूर्वक अवश्य ही बिता सकता था।

संयमित जीवन

ब्रह्मचर्यावस्था में मन के साथ साथ शरीर भी सुपुष्ट, कसा हुआ एवं सामर्थ्यसंपन्न बने, इस पर जोर दिया जाता था। घर के सामने भिक्षार्थ आये हुए विद्यार्थी को देखते ही प्रत्येक माता के अंतःकरण में यह भाव जागृत हो, जाता था कि उसका लड़का भी इसी समय इसी प्रकार कहीं अन्यत्र भिक्षाटन के लिए गया होगा। यह कल्पना आते ही अपने उस लड़के की भावमूर्ति उसके अंतःपटल पर खिंच जाती थी और अत्यन्त भावविह्वल होकर वह उस ब्रह्मचारी को भरपूर भिक्षा देती थी। प्राप्तान्न में से ब्रह्मचारी को केवल इतना ही खाना चाहिए, ऐसा अन्य आश्रमों के समान ब्रह्मचर्याश्रम में कोई नियम नहीं था। शास्त्रकारों ने कहा है कि ब्रह्मचारी जितना पचा सके उतना खाये।

बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशतं गृहस्थानाममितं ब्रह्मचारिणाम् ॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी च योऽनश्नंस्तु तपश्चरेत् ।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णीभवेत्तु सः ॥

"सन्यासी को आठ, वानप्रस्थ को सोलह तथा गृहस्थ को बत्तीस ग्रास भोजन करना चाहिए । ब्रह्मचारी मात्र अपनी आवश्यकतानुसार जितना खा सके खाये । उसके लिए कोई नियम नहीं है । जो ब्रह्मचारी व गृहस्थ निराहार रहकर तपश्चर्या करता है, उसे प्राणरूपी अग्निहोत्र के लोप करने का पाप लगता है ।"

वैदिक शिक्षणपद्धति में यह विधान था कि गुरु के आश्रम में रहकर ही विद्यार्थी को अपना शिक्षण ग्रहण करना चाहिए और कम से कम चंद्रगुप्त मौर्य के काल तक तो इस विधान का प्रत्यक्ष पालन होता था । ये आश्रम जनसमुदाय से दूर अरण्यों में हुआ करते थे । इस कारण अपना जीवन गठन करने के लिए सद्गुरु के आधीन रहने वाले विद्यार्थियों के जीवन पर नागरी जीवन के विलासी वातावरण का कोई कुसंस्कार होने की संभावना नहीं रहती थी । उसी प्रकार नागरी जीवन के भावनोद्दीपक संघर्ष के प्रवाह से आश्रम का जीवन सर्वथा निर्लेप रह सकता था । निष्पाप व श्रेष्ठ धारणा से युक्त जीवन की उत्पत्ति के लिए इस प्रकार के वातावरण की कितनी महत्ता है, यह शिक्षणशास्त्रज्ञों को बताने की आवश्यकता नहीं । पुराण साहित्य में कण्व, वाल्मीकि आदि कुलपतियों के रम्य आश्रमों का वर्णन प्राप्त होता है । बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में जाबालि मुनि के आश्रम का काव्यमय वर्णन किया है । उस जैसा वातावरण इस प्रकार के आश्रमों में विशेषरूप से विद्यमान रहता था, यह पौराणिक प्रमाणों से सिद्ध होता है । जनसमुदाय से दूर इस प्रकार के आश्रमों के पवित्र वातावरण में ही श्रेष्ठ जीवन का निर्माण हो सकता है, यह सोचकर ही कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा को ब्राह्मणों के आश्रमों के लिए जगह सुरक्षित रखना चाहिए । विद्यार्थी को आश्रम में रहकर ही शिक्षा प्राप्त करना चाहिए ऐसा नियम होने के कारण, वहाँ विद्यार्थी के समक्ष जहाँ अपने चारित्र्य संपन्न गुरु का आदर्श सदैव उपस्थित रहता था, वहाँ उस विद्यार्थी के छोटे से छोटे दोषों की ओर भी गुरु का पूर्ण लक्ष्य रहता था और इस कारण उसकी उच्छृंखलता एवं स्वैराचार पर प्रतिबंध लगकर उसका सारा जीवन अनुशासन में बद्ध हो जाता था । राजा से लेकर रंक तक सभी को ऐसे आश्रमों में शिक्षण लेना पड़ता था । यह बात उत्तरकालीन द्रोण व द्रुपद, श्रीकृष्ण व सुदामा के उदाहरणों से

स्पष्ट है। शिक्षणशास्त्र के इस नियम पर लक्ष्य देने पर वैदिक शिक्षणपद्धति में गुरु का स्थान कितना दायित्वपूर्ण एवं महत्वपूर्ण था, इस बात की कल्पना आ जाती है। और इस दृष्टि से गुरु व शिष्य का आपसी संबंध किस प्रकार का होता था यह देखना अत्यंत उद्बोधक होगा। उस संबंध में तथा वैदिक शिक्षणपद्धति की और भी कुछ महत्वपूर्ण बातों के बारे में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

४

वेदकालीन गुरु, शिष्य व शिक्षण

वैदिक शिक्षण पद्धति में गुरु का स्थान असामान्य था। (गत अध्याय में दिये गये अथर्ववेद के उद्धरणों में यह लिखा है कि गुरु को शिष्य का आध्यात्मिक पिता माना जाता था)। अज्ञानान्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक को वेदों ने जन्म देने वाले माता-पिता से भी श्रेष्ठ माना है। यही नहीं, भारतीय अंतःकरण की श्रद्धा तो यहाँ तक थी कि गुरु के चिंतनमात्र से ही न सीखी हुई विद्याओं में भी प्रथम श्रेणी का प्राविण्य प्राप्त किया जा सकता है, जिसके उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में महाभारत की एकलव्य की सुप्रसिद्ध कथा है। एकलव्य वन्य जाति का होने के कारण महाभारतकालीन विख्यात धनुर्वेदाचार्य द्रोण ने उसे धनुर्वेद सिखाने से इन्कार कर दिया। परन्तु उसने द्रोण की अचेतन पार्थिव प्रतिकृति को ही गुरु मानकर अरण्य में धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही वह उसमें इतना प्रवीण हो गया कि द्रोणाचार्य का पट्टशिष्य अर्जुन भी, महाभारत के वर्णनानुसार संधानक्रिया में उसकी अपेक्षा कम कुशल सिद्ध हुआ। गुरु की महिमा का यह कितना श्रेष्ठ काव्यपूर्ण आविष्कार है! वैदिक धर्म की इस गुरु विषयक धारणा ने भारत में बाद में उत्पन्न हुए पंथोपपंथों के ऊपर भी कितना प्रभाव डाला है, यह बौद्ध-जैनादि संप्रदायों के आचार-विचारों द्वारा स्पष्ट दिखाई देता है। गुरुपूर्णिमा का दिन समस्त हिन्दुमात्र के लिये समान रीति से पवित्र है। श्री ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास, तुलसीदास, एकनाथ आदि प्रतिभासम्राटों ने गुरु के पादपद्मों में जो भावपुष्प चढ़ाये हैं वे भारतीय संस्कृति को चिरकाल से सुगन्धित करते आ रहे हैं। श्रीमदाद्य-शंकराचार्य ने शतश्लोकी में निम्न आशय के उद्गार व्यक्त किए हैं—

दृष्टान्तो नैव दृष्टः त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्रकल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारं।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।
स्वीयं साम्यं विधते भवति निरुपमः तेन वा लौकिकोऽपि॥

"ज्ञानप्रदाता सद्गुरु के लिए समस्त त्रिभुवन में कोई उपमा नहीं दी

जा सकती। यहाँ तक कि पारसमणि की उपमा भी उसके लिए लागू नहीं होती, क्योंकि पारसमणि तो लोहे को सोना ही बनाता है, पारसमणि नहीं बनाता, जबकि गुरु शिष्य को अपने जैसा ही बना देता है। इस दृष्टि से सामान्य अध्यापक भी निरुपमेय है।" श्री तुकाराम महाराज ने भी इसी प्रकार का आशय व्यक्त करते हुए कहा है—

"सद्गुरुवांचोनि सांपडेना सोय । धरावें ते पाय आधीं आधीं ॥
लोह परिसाची न साहे उपमा। सद्गुरु महिमा अगाध तो ॥

अर्थात् "बिना सद्गुरु के मार्ग मिलना सम्भव नहीं, अतः सर्वप्रथम उसके ही चरणों का आश्रय लेना चाहिए। सद्गुरु की महिमा इतनी अगाध है कि लोहे व पारस की उपमा भी उसके लिए लागू नहीं होती।" उनके इस कथन में व्यक्त होने वाली धारणा को भारतीय संस्कृति का एक अविभाज्य व अंगभूत लक्षण माना जा सकता है। **"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"** (परमेश्वरी तत्व का आकलन करने की यदि इच्छा हो तो उसके लिए हाथों में समिधा लेकर गुरु के पास ही जाना चाहिए) यह श्रुति का वचन है। किन्तु भारतीयों की धारणा तो यहाँ तक है कि केवल अध्यात्म, मंत्रशास्त्र, योग आदि गूढ़ विद्याएं ही नहीं, लौकिक विद्याएं भी प्रत्यक्ष गुरु के पास अध्ययन किये बिना केवल स्वतः के बुद्धि-सामर्थ्य के बल पर ग्रंथों का पठन करने मात्र से प्राप्त नहीं हो सकतीं। एक सुभाषितकार आलंकारिक भाषा में कहते हैं—

पुस्तकप्रत्ययाधीत नाधीतं गुरुसन्निधौ ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः ॥

(गुरु के पास अध्ययन न कर केवल स्वतः की प्रतिभा से ग्रंथों के पठन का प्राप्त किया हुआ पांडित्य जार के द्वारा गर्भवती हुई स्त्री के समान सभा में सुशोभित नहीं होता।)

इस महत्पद को प्राप्त करने की योग्यता रखने वाली गुरुसंस्था भारत में थी। यही कारण है कि शताब्दियों व सहस्त्राब्दियों के बीत जाने पर भी भारत का स्थान ध्रुव के समान अटल बना हुआ है। वैदिक राष्ट्र के गुरुओं की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता थी उनकी बुद्धि व उनके मानस की प्रांजलता व प्रामाणिकता। विद्यादान व विद्याग्रहण के सम्बन्ध में मानापमान की गलत कल्पना तथा ज्ञान का झूठा दंभ उन आश्रमस्थ आचार्यों के व्यवहार में तिलमात्र भी नहीं था। गोपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में एक बड़ी ही उद्बोधक कथा का वर्णन है। मौद्गल्य व मैत्रेय नाम के दो आचार्य थे। उनमें एक बार वादविवाद हुआ जिसमें मैत्रेय हार गये। ऐसा पता चला कि उन्हें गायत्री विद्या का रहस्य ज्ञात नहीं है। बस, फिर क्या

था ? उस प्रामाणिक गुरु को लगा कि जब तक मेरा स्वतः का ज्ञान अधूरा व मौके पर धोखा देने वाला है तब तक मुझे दूसरों को शिक्षा देने का कोई अधिकार नहीं, और इसलिए उन्होंने पाठशाला बन्द कर मौद्‌गल्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। आजकल के महाविद्यालयों के अध्यापक, प्राध्यापक, आचार्य आदि के लिए क्या यह बात मनन करने योग्य नहीं है ? इतिहास बताता है कि वैदिक राष्ट्र की यह बौद्धिक प्रामाणिकता मुगलों के काल तक इस देश में विद्यमान रही। विख्यात मीमांसक मंडनमिश्र व भगवत्पूज्यपाद श्रीमदाद्यशंकराचार्य के वादविवाद के समय मंडनमिश्र की पत्नी को न्यायपद पर आसीन कराने में श्री शंकराचार्य को किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हुआ। मंडनमिश्र की पत्नी को भी अपने पति की हार घोषित करते समय किसी प्रकार का संकोच नहीं लगा। और उसके पश्चात् सन्यास ग्रहण कर श्री शंकराचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने में मंडनमिश्र को भी कर्त्तव्यपूर्ति का ही समाधान प्राप्त हुआ। यह सारा इतिहास भला क्या सिद्ध करता है ? बादशाह शाहजहाँ के समय दक्षिण में अप्पय्या दीक्षितार नाम के एक प्रतिभासंपन्न पंडित रहा करते थे। अप्पय्या दीक्षितार द्वैतमत के अनुयायी थे। एक बार विख्यात शृंगेरीमठ के एक अद्वैतवादी पंडित से शास्त्रार्थ में वे हार गये। तुरन्त ही उन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया तथा बाद में आमरणान्त अद्वैत मत का ही पुरस्कार करते रहे। विद्या व बुद्धि के क्षेत्र में प्रामाणिकता की परम्परा जिस राष्ट्र में वेदकाल से लेकर यावनी पारतंत्र्य के काल तक अव्याहत चली आई हो, उस राष्ट्र का राष्ट्रजीवन कितना समुज्ज्वल होगा यह बताने की आवश्यकता नहीं।

इस प्रामाणिकता के साथ-साथ विद्यादान करते समय गुरु शिष्य को सर्वस्वार्पण किया करता था। आयुर्वेद के उपनयन का उल्लेख करते समय गुरु के इस आशय के वाक्य हमने देखे ही हैं। आजकल के समान उस काल में ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि शिक्षक थोड़े हैं व विद्यार्थी असंख्य। और विद्यार्थियों को भी विद्याध्ययन की समाप्ति तक गुरुगृह में ही रहना पड़ता था। इस कारण गुरु को प्रत्येक विद्यार्थी पर ध्यान दे सकना सुलभ होता था। और सभी लोगों का निवास एक साथ ही होने के कारण गुरु के पास किये गये अध्ययन की चिंतनिका अपने से अधिक प्रतिभासम्पन्न व प्रौढ विद्यार्थियों के पास की जा सकती थी। उस समय की शिक्षणपद्धति में ही इस बात का समावेश होने के कारण विद्यार्थी अपने अधीन विषय में प्राविण्य प्राप्त करने के साथ साथ चिंतनिका के माध्यम से सिखाने की कला में भी आप ही आप प्राविण्य प्राप्त कर लेता था। और इसीलिए शिक्षण समाप्त होते ही स्नातक का समावर्तन करते समय गुरु शिष्य को आशीर्वाद दिया करता था कि तुम्हें बहुत से विद्यार्थी प्राप्त हों। यह कोरा आशीर्वाद नहीं

था, अपितु इसमें गुरु का इस बात का आत्मप्रत्यय व्यक्त होता था कि कृतविद्य होकर आश्रम के बाहर जाने वाला स्नातक अब इतना समर्थ हो गया है कि वह अब स्वयं ही विद्यादान का व्रत चला सकता है। इस विशिष्ट प्रकार के शिक्षणतंत्र का अवलंबन करने के कारण आजकल के समान शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए अलग से महाविद्यालय खोलने की आवश्यकता नहीं थी। प्रश्नोपनिषद् की एक कथा में एक बड़ा ही बोधप्रद तत्व बताया गया है। एक ऋषि कहता है—"**हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्य एतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवम् नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषम् कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज।**" (प्रश्नोपनिषद् षष्ठ प्रश्न १) "कोसल देश का हिरण्यनाभ नाम का राजपुत्र मेरे पास आया और पूछने लगा कि हे भरद्वाज, क्या आप ऐसे पुरुष को जानते हैं जो सोलह कलाओं से युक्त हो? मैंने उसे उत्तर दिया कि मैं नहीं जानता। यदि मैं उसे जानता होता तो क्या मैंने उसकी जानकारी तुम्हें न दी होती? ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से अपने पास आने वाले व्यक्ति से जो अनृत भाषण करता है, उसका समूल नाश हो जाता है। और इस कारण इस सम्बन्ध में मैं झूठ बोल ही नहीं सकता। यह सुनकर वह कुमार चुपचाप अपने रथ पर बैठकर वापस लौट गया।"

आश्रम में विद्यार्थियों को उनकी पात्रता देखकर ही लिया जाता था, इसका उल्लेख इसके पूर्व हुआ ही है। वैदिक राष्ट्र की शिक्षणपद्धति पर टीका करते हुए कुछ लोग यह कहते हैं कि शिक्षण देने का काम करने वालों ने अपना विशिष्ट वर्ग तैयार कर उस व्यवसाय को केवल अपने ही अधिकार में ले लिया था। उनकी इस टीका से यही अर्थ निष्पन्न होता है कि उन्हें भारत की गुरुपरम्परा के सम्बन्ध में यत्किंचित् भी ज्ञान नहीं है। शिक्षण निःशुल्क होने के कारण उसके द्वारा किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की अपेक्षा ही नहीं रहती थी। अपने बल पराक्रम के भरोसे कोई जागीर प्राप्त करना अथवा व्यवसाय या अन्य धन्धों के सहारे जीविकोपार्जन करना इत्यादि सारे मार्ग दूसरों के लिए छोड़कर स्वयं सारा जन्म केवल ज्ञानदान के कार्य में—और वह भी बिना मूल्य—लगाने का व्रत जिन्होंने अंगीकृत किया, उन लोगों ने उस कार्य में अपने स्वार्थ का होम ही किया था यह सहज ध्यान में आने लायक बात है। राजा लोग आश्रमों को मदद अवश्य देते थे, परन्तु सच पूछा जाय तो गुरु को मिलने वाला धन केवल उतना ही था जितना विद्यार्थी उन्हें विद्याध्ययन की समाप्ति के पश्चात् गुरुदक्षिणा के रूप में देते थे। गुरुदक्षिणा का कोई करार नहीं किया जाता था। इस प्रकार का करार करने वाले व्यक्ति की समस्त धर्मग्रंथों में घोर निंदा की गई है। कालिदास

कहते हैं—"**यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति**" अर्थात् जो अपनी विद्या का उपयोग केवल पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए करता है, वह व्यक्ति ब्राह्मण न होकर ज्ञान की दूकान लगाने वाला बनिया है। सद्वर्तनी तथा अपने चुने हुए विषय में बुद्धि की गम्यता रखने वाले विद्यार्थी को, फिर वह कोई भी क्यों न हो, मना नहीं किया जा सकता था। वेदों को छोड़कर बाकी सारे विषय त्रैवर्णिकों के समान ही अन्य लोगों को भी सिखाये जाते थे। उस सम्वन्ध में अन्य लोगों की अपेक्षा त्रैवर्णिकों के प्रति कोई पक्षपात बरता जाता हो सो बात बिल्कुल नहीं थी। किन्तु जहाँ तक वेदों का सम्बन्ध है, उनके बारे में सबकी श्रद्धा यह थी कि वे मंत्र हैं तथा उनके उच्चारण का एक विशेष शास्त्र है, जिसका विश्व एवं मनुष्य जीवन की कल्पनाओं से विशेष प्रकार का सम्वन्ध है और इसलिए, उस श्रद्धा के मूल में विद्यमान शास्त्रीय संकेतों के अनुरूप केवल वेदाध्ययन के सम्बन्ध में मात्र त्रैवर्णिकेतर जनों को उनके ही कल्याणार्थ अलग रखा गया था। सूक्ष्मतम ध्वनिशास्त्र से सम्बन्धित न रहने वाले सारे ही विषय सब लोगों को सिखलाये जाते थे। वेदों के सम्बन्ध में शास्त्रीय संकेत कौन कौन से हैं, इनका 'वेदों की अपौरुषेयता' वाले अध्याय में विवेचन हुआ ही है। यहाँ उनका ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु वेदों व उनसे सम्बन्धित बातों का ज्ञान अन्य सब लोगों को भी हो सके इसकी उन्हें इतनी चिन्ता थी, केवल तन्निमित्त ही उन्होंने पुराणादि साहित्य की निर्मिति की। आज भी संस्कृत एवं वेद पाठशालाओं में हम गुरु को घोर दारिद्रय में ही जीवन व्यतीत करता हुआ पाते हैं, किन्तु फिर भी वहाँ का शिक्षण निःशुल्क है। पंडितराज राजेश्वरशास्त्री द्रविड सरीखे आदर्श ब्राह्मण्य महापुरुष, घर में उपवास ही क्यों न करना पड़े किन्तु भृतकाध्ययन (पैसे लेकर शिक्षण देना) नहीं करूंगा, ऐसे उग्र निश्चय से आज भी अपना जीवन व्यतीत करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इससे इस बात की स्पष्ट कल्पना आ जाती है कि वैदिक परम्परा के सूत्र आज भी किस प्रकार आदर्श भारतीयों के रग-रग में व्याप्त हैं। गुरु जब तक बुलाता नहीं तब तक विद्यार्थी को स्वतः होकर गुरु से विद्या सिखलाने का आग्रह नहीं करना चाहिए, ऐसा नियम था। परन्तु इसके साथ ही धर्मशास्त्रों का यह भी स्पष्ट संकेत है कि वर्ष भर से अपने घर में रहने वाले विद्यार्थी को जो गुरु शिक्षण नहीं देता, उसे पाप लगता है। विद्यार्थी के आश्रम में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् उसके सद्वर्तन एवं शीलसंपन्नता की निश्चिति के लिए केवल एक वर्ष तक ही राह देखी जा सकती थी। कूर्मपुराण में कहा गया है—

संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानमनिर्दिशन्।
हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः॥

"एक वर्ष तक घर में रहने वाले शिष्य को यदि गुरु शिक्षण प्रदान नहीं करता तो शिष्य का समस्त पाप गुरु को लग जाता है।" स्मृतिकौस्तुभ में तो यहाँ तक बताया गया है कि विद्यार्थियों को तत्परता से शिक्षण न देने के कारण गुरु को आम्रवृक्ष की योनि में जन्म लेना पड़ा। ऐसे संकेत जिस समाज में विद्यमान हैं उसमें विद्या के सम्बन्ध में कितनी श्रेष्ठ धारणा रही होगी, यह सहज ही ध्यान में आने योग्य है। परन्तु आखिर शिक्षक को भी दोपहर के समय कुछ न कुछ तो उदरस्थ करना ही पड़ता था और इस कारण शास्त्रकारों ने शिष्यों के अंतःकरण में भी कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से यह निर्देश दिया कि शिष्य को अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को भरपूर गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। परन्तु इस श्रेष्ठ भूमिका के आधार पर नवीन तेजस्वी ज्ञानमय जीवन उत्पन्न करने वाले गुरु को कितना ही क्यों न दिया जाय, किन्तु शिष्य उसके उपकारों से उऋण नहीं हो सकता, इस प्रकार की श्रेष्ठ एवं उचित भावना गुरुपद के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने व्यक्त की है। शिक्षण पूरा हुए बिना गुरुदक्षिणा नहीं लेनी चाहिए, ऐसा विधान था। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही उद्‌बोधक संवाद आया है। उपनिषद् में कहा गया है—"**जनको ह वैदेह आसां चक्रे अथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। तं होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशू-निच्छन्नण्वंतानीत्युभयमेव सम्राडिति होवाच।**" अर्थात् "अपने से भेंट करने आने वाले श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ लोगों के लिए वैदेह जनक ने एक विशेष स्थान एवं एक विशेष समय नियुक्त किया था। एक बार जब याज्ञवल्क्य मुनि उनके यहाँ आये, तब जनक जी ने उनसे पूछा कि किस हेतु से आपका शुभागमन मेरे यहां हुआ है ? गोधन आदि प्राप्त करने के लिए अथवा मुझे सूक्ष्म वस्तु का बोध हो सके, इस निमित्त मेरे प्रश्नों का उत्तर देते हुए मुझे ज्ञानदान करने के लिए ? तब याज्ञवल्क्य जी ने उत्तर दिया कि मैं दोनों बातों के लिए आया हूँ।" तत्पश्चात् जिज्ञासु की भूमिका अपनाने वाले जनक एवं ज्ञानदाता की भूमिका अपनाने वाले याज्ञवल्क्य जी के मध्य प्रश्नोत्तर प्रारम्भ हुए। इस प्रकार कुछ देर तक चलने के उपरान्त जनक प्रसन्न हो गये एवं याज्ञवल्क्य जी को मुँहमांगी सम्पत्ति देने की सिद्धता प्रगट की। उस समय याज्ञवल्क्य जी ने जो ओजस्वी उत्तर दिया वह देखने योग्य है—"**हस्तिऋषभ-सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मे अमन्यत न अननुशिष्यं हरेत् इति।**" "जनक ने कहा कि मैं एक सहस्र बैल एवं हाथी आपको प्रदान करता हूँ, आप कृपया ग्रहण करें। इस पर याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि शिष्य को सम्पूर्ण ज्ञान देकर उसे पूर्ण रूप से कृतार्थ किए बिना गुरुदक्षिणा नहीं लेना चाहिए, ऐसा मेरे पिता ने मुझे सिखाया है।" परन्तु यह धारणा भी उस समय थी कि एक बार गुरु से विद्या ग्रहण कर लेने

के पश्चात् यदि गुरु ने गुरुदक्षिणा स्वीकार नहीं की तो शिष्य का जीवन सफल नहीं होता। ऐसा शिष्य बड़ा अभागा समझा जाता था। कभी कभी तो गुरुवत्सल शिष्य तथा शिष्यप्रेमी गुरु में बड़ा ही मनोरंजक प्रेमकलह चला करता था और उसमें से मजेदार विपत्ति का भी निर्माण हो जाया करता था। कालिदास ने रघुवंश में राजा रघु के समय के प्रख्यात मंत्रवादी कौत्स के ऊपर आई इस प्रकार की विपत्ति का अतिशय हृदयंगम वर्णन किया है। कौत्स वरतंतु नामक ऋषि का शिष्य था। विद्याग्रहण की समाप्ति पर उसने अपने गुरु से गुरुदक्षिणा लेने का अतीव आग्रह किया। उसकी स्थिति को देखते हुए उसके निरिच्छ गुरु ने उससे कहा कि मुझे कुछ भी नहीं चाहिए; परन्तु बिना दिये यदि तेरा मन न मानता हो तो तुझसे जो बने वह लाकर मुझे दे व कृतार्थ हो जा। परन्तु तरुणाई के उल्लास से भरे हुए कौत्स को यह अच्छा न लगा और उसने अपने गुरु से बारम्बार आग्रह किया कि आपको जो कुछ भी चाहिए वह आप ही मुझसे कहें। उसका आग्रह इतना प्रबल था कि उस शान्तिब्रह्म गुरु को लगा कि इसे संभवतः अपनी कर्तृत्व-शक्ति का घमण्ड हो गया है और उसे चूर्ण करने के लिए उन्होंने १४ करोड़ सुवर्णमुद्राओं की माँग की। सुनते ही कौत्स की आँखें खुल गईं। परन्तु फिर भी हताश न होते हुए उसने रघु के पास से उतनी मुद्राएं लाकर अपनी गुरुदक्षिणा पूर्ण कर ही दी। ऐसे कामों में शिष्य की मदद करना समाज के श्रेष्ठ लोग एवं राजागण अपना कर्त्तव्य समझते थे। यही नहीं, इस प्रकार का साहाय्य न करना अत्यन्त तिरस्करणीय भी समझा जाता था। जिस समय कौत्स रघु के पास आया उस समय रघु ने विश्वजित् नाम के यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर दिया था तथा उनके पास कुछ भी शेष नहीं बचा था। परन्तु यह देखकर जब कौत्स अन्यत्र जाने के लिए उद्यत हुआ तब रघु ने उसे उत्तर दिया—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्यकामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत परीवादनवावतारः॥

—रघुवंश सर्ग ५ श्लो० २४

"मैं यह नहीं चाहता कि कोई यह कहकर मेरी निन्दा करे कि कृतविद्य होकर गुरुदक्षिणा के लिए रघु के पास आये हुए विद्यार्थी को अपनी मांग पूरी न होने के कारण किसी अन्य दाता के पास जाना पड़ा।" महाभारत के आदिपर्व में ऐसा ही वर्णन उत्तंक नाम के गुरुदक्षिणार्थी शिष्य का है, जिसे राजा ने गुरुदक्षिणा के लिए अपनी रानी के सुवर्णकुंडल निकालकर दिये। गुरु अपने शिष्य की माता-पिता से भी अधिक चिंता किया करता था तथा शिष्य भी गुरु पर सबसे अधिक प्रेम किया करता था। केवल विद्यादान ही

नहीं, बल्कि शिष्य के सम्पूर्ण जीवन का गठन करना ही गुरु का वास्तविक कार्य था। गुरुगृह में रहते समय शिष्य अपनी सामाजिक योग्यता आदि को एक ओर रखकर सब प्रकार का कार्य किया करता था। मथुरामंडल में अपने कर्तृत्व के द्वारा महान् राज्यक्रान्ति कर एक राज्य के स्वामी बनने वाले श्रीकृष्ण ने उज्जैन में सांदीपनि गुरु के घर सभी प्रकार के काम किये, ऐसा वर्णन है। गोपथ ब्राह्मण में तो गुरु के घर अत्यन्त उत्साह से काम करते समय पसीने से लथपथ शिष्य का बड़ा उद्बोधक वर्णन आया है। परन्तु इसके साथ ही यह भी संकेत था कि शिष्य से इस प्रकार का काम करवाते समय उसके अध्ययन में बाधा उत्पन्न नहीं होना चाहिए। यदि गुरु का कार्य करते हुए शिष्य की मृत्यु हो जाती थी तो गुरु को प्रायश्चित करना पड़ता था। शिष्य को मारने का गुरु को अधिकार था या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। आपस्तंब ऋषि का मत है कि शिष्य जब अनुशासन के बाहर जाने लगे तब उसे ठण्डे पानी से स्नान की, उपवास की अथवा गुरुगृह त्याग की शिक्षा दी जाए, शारीरिक दण्ड न दिया जाय। मनु व गौतम का मत है कि यदि वह बिल्कुल ही अनियंत्रित हो जाए तो उसकी पीठ पर बारीक बेंत से मार लगाने में कोई आपत्ति नहीं। ऐसा दिखता है कि इस प्रकार की शिक्षा देते समय भी राजा व रंक में समानता का ही पालन किया जाता था। बौद्ध जातक में वर्णन है कि बनारस के राजपुत्र की चोरी की आदत छुड़वाने के लिए गुरु ने बेंत से उसकी अच्छी मरम्मत की। मनुस्मृति व धर्मसूत्र के साहित्य से ऐसा लगता है कि वैदिक राष्ट्र के ऋषि भी ऐसे ही न्यायनिष्ठुर होते होंगे। निरपेक्ष बुद्धि से देवता के समान शिष्य का जीवन गढ़ने वाले गुरु को शिष्यगण मान दिया करते थे। गुरु के आते ही उठकर उन्हें नमस्कार करना चाहिए, उन्हें उच्चासन पर बैठाना चाहिए, उनसे अधिक अच्छा नहीं पहनना चाहिए आदि शिष्टाचार के नियम तो थे ही; साथ ही गुरु की निन्दा करना या सुनना भी भयानक पातक माना जाता था। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि नीति व धर्म को छोड़कर आचरण करने वाले गुरु की तानाशाही चलने दी जाय। आपस्तंब ने कहा है—**"प्रमादानाचार्यस्य बुद्धिपूर्वकं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत्"** अर्थात् "गुरु ने यदि अनजाने प्रमाद किया हो अथवा जानबूझकर धर्म व नीति के नियमों का उल्लंघन किया हो तो शिष्य को चाहिए कि एकान्त में गुरु को विनयपूर्वक उन बातों की जानकारी दे।" पंचम वेद माने जाने वाले महाभारत में बताया है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥

"कार्याकार्य का विवेक छोड़ देने वाले तथा चाहे जिस प्रकार का मदांध वर्तन करने वाले उन्मार्गगामी व उन्मत्त गुरु का परित्याग कर देना चाहिए।" और इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भीष्म ने परशुराम से घोर युद्ध किया था तथा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र जी ने स्वतः के पुत्रधर्म के आड़े आने वाली गुरु वसिष्ठ की वनवास छोड़कर अयोध्या वापस लौट चलने की आज्ञा का पालन नहीं किया था। पोप (धर्मगुरु) कभी गलती कर ही नहीं सकता, ऐसा कल तक मानने वाले क्रिश्चियन योरोप की तथा गुरु को देवत्व का मान देकर भी उनके बारे में सतर्क रहनेवाले अपने वैदिक पूर्वजों की धारणाओं का यह भेद ध्यान में रखना चाहिए। आश्रमसंस्था व गुरुगृहवास, इन दो विशेषताओं के कारण प्रत्येक गुरु के पास थोड़े विद्यार्थी रहा करते थे। उनकी रोज ही परीक्षा हुआ करती थी व तत्पश्चात् योग्यतानुसार ही उन्हें आगे का पाठ सिखाया जाता था। इस कारण आलसी व मनमौजी विद्यार्थी शीघ्र ही रास्ते पर आ जाते थे तथा बुद्धिमान् विद्यार्थियों का शिक्षण भी उनके कारण अड़ा नहीं रहता था। यदि कोई आलसी एवं विलासी प्रवृत्ति का विद्यार्थी अपने जीवन-क्रम में यथावश्यक परिवर्तन लाता हुआ नहीं दिखाई देता था तो गुरु उसे देहदंड देकर सीधे मार्ग पर लाने का प्रयास करते थे। इस पर भी यदि वह सीधा नहीं होता था तो फिर यह सोचकर कि कहीं एक सड़े आम के कारण अन्य आम भी न सड़ जाएँ, उसे आश्रम से बाहर निकाल दिया जाता था। युवान च्वांग नामक चीनी प्रवासी ने अपना यह अनुभव लिखा है कि "बुद्धिमान् विद्यार्थी के आलस्य एवं उसकी अकर्मण्यता को दूर करने में भारतीय गुरु बड़े प्रवीण हुआ करते थे।" शिष्य के प्रश्नों में से ही अनेक उपप्रश्न निकालकर उसकी बुद्धि एवं धारणाशक्ति का विकास करते हुए ये आचार्य किस तरह कलात्मक पद्धति से शिक्षण दिया करते थे, इसका उत्कृष्ट प्रत्यंतर उपनिषदों में देखने को मिलता है। उस समय पदवियों की प्रथा तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए वार्षिक परीक्षाओं की पद्धति रही होगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इस कारण समाज को अपनी योग्यता की प्रतीति वारम्वार करा देने के लिए तथा विद्वज्जनसभा में अपनी प्रतिष्ठा टिकाए रखने के लिए विद्या को सदैव सतेज रखने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था। ज्ञान की दृष्टि से यही पद्धति सर्वाधिक योग्य एवं हितकारिणी थी, इसे कोई भी शिक्षणशास्त्रज्ञ अमान्य नहीं कर सकता।

वैदिक साहित्य से सिद्ध होता है कि उस काल में साहित्य के साथ साथ अन्य शास्त्रों एवं व्यवसायों का भी शिक्षण दिया जाता था। निम्नलिखित विद्याओं का तो प्रत्यक्ष वैदिक साहित्य में ही उल्लेख मिलता है—

(१) वेदविद्या (२) इतिहास पुराण (३) नारशंसी गाथा (४) छंदः शास्त्र (५) याज्ञिक कर्म (६) भूमिति (७) ज्योतिष (८) सैनिक शिक्षण (९) गायन कला (१०) गूढ़ विद्या (११) बढ़ईगिरी (१२) चितिकर्म या चिनाई (१३) धनुर्विद्या (१४) रथकर्म (१५) अश्वसारथ्य (१६) वैद्यक (१७) लुहारी (१८) खनिज विद्या (१९) सर्प विद्या व (२०) गुरुविद्या।

प्राचीन भारतीयों के अंतःकरण पर विद्या की महत्ता किस प्रकार अंकित थी यह दर्शाने वाले उल्लेख प्रत्यक्ष ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए हम ऋग्वेद के इन वचनों को देखें—

"यज्ञेन वाचः पदऽवीयं आयन् तां अनु अविंदत् ऋषिषु प्रऽविष्टाम्।" यज्ञ की सहायता से सत्पुरुष ज्ञानरूप वाणी की ओर उन्मुख हुए और वह दिव्य वाणी उन्हें ऋषियों के अंतःकरण में प्रविष्ट हुई दिखाई दी। **"उतत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।"** जैसे कोई अलंकृता एवं पतिव्रता स्त्री अपने पति के समक्ष अपने रहस्यों को व्यक्त करती है, उसी प्रकार वह दिव्य वाणी भी अपने गूढ़ रहस्यों को किसी प्रतिभाशाली पुरुष के आगे प्रगट करती है। अथर्ववेद तो कहता है—**"इन्द्रो वै ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभवत्।"** "इन्द्र को देवों में श्रेष्ठ स्थान केवल ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदाध्ययन के निमित्त तपश्चर्या करने के कारण ही प्राप्त हुआ है।" वैदिक संस्कृति में जीवमात्र के जिन तीन ऋणों की कल्पना व्यक्त की गई है, उनमें से ऋषिऋण केवल विद्याध्ययन के द्वारा ही चुकाया जा सकता है, ऐसा तैत्तिरीय संहिता में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। काठक संहिता के अनुसार ब्राह्मणत्व जन्म के ऊपर नहीं, प्रत्युत ज्ञान के ऊपर अवलम्बित है और इसकी पुष्टि तैत्तिरीय संहिता के ये वचन करते हैं—**"एष वै ब्राह्मणऋषिः आर्षेयः यः सुश्रुवान्।"** अर्थात् "वेदविद्या में जो पारंगत है वही वास्तव में ब्राह्मणऋषि है।" उपनिषद् साहित्य में एक मजेदार कथा इस प्रकार की है कि एक बार एक तरुण गृहस्थ के पास जब समाज के कुछ वृद्धजन शिक्षण के निमित्त गये तो उसने उन्हें संबोधित करते समय 'पुत्रकाः' शब्द का प्रयोग किया। वृद्धों ने इसे अपना अपमान समझकर देवताओं से इस बात की शिकायत की। तब देवों ने विचारोपरान्त जो निर्णय दिया वह इस प्रकार का है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानः तं देवा स्थविरं विदुः।

—मनुस्मृति २.१५६

"केवल बाल सफेद होने से ही कोई वृद्ध नहीं हो जाता और न ही इस कारण वह श्रेष्ठ होता है। तरुण होकर भी जो विद्या में निष्णात है उसी

को देवता श्रेष्ठ मानते हैं।" उपनिषदों के इसी अभिप्राय का व्यक्तीकरण करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

न हायनैः न पलितैः न वित्तेन न बंधुभिः।
ऋषयः चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

—मनुस्मृति २.१५४

"केवल बाल सफेद होने से, आयु बढ़ जाने से, पैसा खूब हो जाने से अथवा बड़े बड़े सगे सम्बन्धी होने से ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। ऋषियों का कथन है कि उनकी दृष्टि में विद्वान् ही सच्चे श्रेष्ठ पुरुष हैं।" यही कारण है कि पुत्रप्राप्ति का बहुत अधिक महत्व मानने वाले वैदिकों ने विद्याग्रहण के उपनयन संस्कार को ही आवश्यक शारीरिक संस्कार माना है, विवाह संस्कार को नहीं। समस्त संस्कारों में उपनयन संस्कार वास्तव में आवश्यक संस्कार है; अन्य विवाहादि संस्कार न भी हुए तो उससे मनुष्य पतित नहीं होता। परन्तु वैदिक धर्म के अनुसार यदि उपनयन संस्कार नहीं हुआ तो उसका आर्यत्व नष्ट होकर वह पतित हो जाता है। इससे इस बात की कल्पना अच्छी तरह से आ जाती है कि वैदिक राष्ट्र में विद्या का कितना अधिक महत्व था। गत अध्याय में समावर्तन संस्कार का वर्णन किया ही है। धर्मसूत्रकारों ने स्नातक का तेज सूर्य से भी अधिक माना है। इस समावर्तन के समय स्वतः गुरु ही शिष्य को रथ या हाथी पर बैठाकर जुलूस के साथ ले जाता था। घर आये हुए किसी अतिथि को केवल एक बार ही मधुपर्क देने की परम्परा थी, किन्तु स्नातक को जितनी बार वह आये उतनी बार मधुपर्क देना पड़ता था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार का मान स्नातक के अतिरिक्त केवल राजा को ही था। जिस रास्ते से राजा की सवारी जाती हो, उसी रास्ते से यदि स्नातक को भी जाना हो तो राजा को पहले स्नातक के लिए मार्ग छोड़ना पड़ता था। शिक्षण कार्य में किसी प्रकार का व्यत्यय न आ पाये इसलिए यह नियम था कि ब्रह्मचारी को जन्म या मरण का दस दस दिन का सूतक नहीं लगता। अपने धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि पुत्रोत्पत्ति के द्वारा मनुष्य पितृऋण से मुक्त होता है। परन्तु केवल पुत्र के जन्म लेने मात्र से ही पितृऋण से मुक्ति नहीं होती। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—"**तस्मात् पुत्रं अनुशिष्टं लोक्यमाहुः तस्मात् एनं अनुशास्ति।**" अर्थात् "लड़का यदि कृतविद्य है तो ही पितृऋण से पिता की मुक्ति होती है। इसलिए सच्चा पिता अपने पुत्र के योग्य शिक्षण की चिन्ता करता है।" अपने धर्मशास्त्र के इस संकेत का स्पष्टीकरण करते हुए माधवाचार्य कहते हैं—

"**न हि पुत्रजननमात्रेण पितुः आनृण्यं। किं तर्हि ? सम्यगनुशिष्टेन पुत्रेण शास्त्रीयेषु कर्मसु सम्यगनुष्ठितेषु पश्चात् आनृण्यं संपद्यते।**"

"लड़के के जन्म लेने मात्र से पिता ऋणमुक्त नहीं होता। लड़के ने यदि योग्य रीति से विद्या का सम्पादन कर शास्त्रीय कर्मों का योग्य आचरण किया तो ही पिता की पितृऋण से सच्चे अर्थ में मुक्ति होती है।" भारतीय अंतःकरण पर विद्या सम्बन्धी इस धार्मिक समादर का प्रभाव सन् १८४८ तक कितना अधिक था, इसका प्रत्यंतर डॉ० लैटनर के उन उद्‌गारों में मिलता है जो उन्होंने सन् १८४८ में पंजाब की शिक्षण विषयक स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए व्यक्त किये थे। वे कहते हैं—

"परकीय आक्रमणों एवं आपसी कलहों के कारण देश में सर्वत्र अराजकता की अवस्था होने पर भी पंजाब में शिक्षण संस्थाएं बढ़ती ही जा रही थीं। औंधी खोपड़ी वाले रियासती राजे-महाराजे, लोभी व लालची साहूकार और यही नहीं तो चोर डाकू भी अपने पापों के प्रक्षालन एवं मन की शान्ति के लिए धर्मशिक्षण संस्थाओं की सहायता तथा विद्वानों का योग्य सत्कार किया करते थे। एक भी देवालय अथवा धर्मशाला ऐसी नहीं थी, जहां धार्मिक शिक्षण के लिए सैकड़ों की संख्या में विद्यार्थी एकत्रित न होते हों। सम्पन्न लोगों में भी ऐसे लोग बहुत ही कम थे जो अपने लड़कों व अपने मित्रों व सम्बन्धियों के बच्चों की शिक्षा के लिए अपने घर में पंडित अथवा गुरु न रखते हों। सैकड़ों साधु ऐसे थे जो अपने धर्मबन्धुओं को तथा कभी कभी विधर्मियों को भी बिना किसी प्रतिदान की भावना से केवल कर्तव्य समझकर निःशुल्क शिक्षण दिया करते थे। एक भी देहाती ऐसा नहीं था जो अपने उत्पन्न किये हुए अन्न का कुछ भाग अपने गाँव के धर्मशिक्षण देने वाले गुरु को समर्पित करने में धन्यता का अनुभव न करता हो।" भारतीय समाज की श्रद्धा वेदों ने निर्माण की है। उपर्युक्त बात क्या यह नहीं दर्शाती कि उस श्रद्धा की परम्परा वेदकाल से लेकर आजपर्यंत अव्याहत रूप से चली आ रही है। डॉ० लैटनर का पंजाब सम्बन्धी यह कथन अन्य प्रान्तों के सम्बन्ध में भी कैसे सत्य है, यह पं० सुन्दरलाल ने अपने ग्रंथ 'भारत में अंग्रेजी राज' में उत्कृष्टता से प्रतिपादित किया है। समस्त दानों में विद्यादान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जिस राज्य में विद्वानों का समादर नहीं होता था उस राज्य का राजा पतित समझा जाता था। विद्वानों के योगक्षेम की चिन्ता करना राजा के कर्तव्यों में एक प्रधान कर्तव्य माना गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—

विद्यास्नाता व्रतस्नाता ये व्यपाश्रित्य जीविनः ।
गूढस्वाध्यायतपसो ब्राह्मणा संशितव्रताः ॥१७॥

तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदारपरितोषिषु ।
यत्करिष्यसि कल्याणं तेन लोके युधांपते ॥१८॥

"जिन्होंने विद्या में अवगाहन किया है, जो व्रताचरण में तल्लीन हो गये हैं, उपजीविका के लिए किसी के आगे हाथ पसारने की जिनकी प्रवृत्ति नहीं है, जो गंभीर स्वाध्याय एवं तपस्या में निमग्न हो गये हैं; ऐसे शुद्ध एकपत्नी-व्रतधारी तथा जितेन्द्रिय महानुभावों का योगक्षेम ठीक तरह से वहन करने के लिए तू जो जो करेगा वह अंत में तेरे लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।" अथर्ववेद से लेकर कौटिलीय अर्थशास्त्र तक के समस्त भारतीय साहित्य में राजाओं के प्रथम कर्त्तव्यों में तपस्वी विद्यावंतों के समादर एवं विद्याप्रसार के लिए सहायता का अंतर्भाव किया गया है। इस कर्त्तव्य में अग्रेसरत्व संपादन करने वाले उपनिषत्साहित्य के प्रसिद्धिप्राप्त राजा जनक एवं अजात-शत्रु तथा बाद के काल के कनिष्क व चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्ष व यशोवर्मा, धर्मपाल व मुंज आदि राजागण भारत के यशोगौरव की वृद्धि करते रहे तथा आगे पेशवाई के काल तक भारतीय सत्ताधारियों ने उस परम्परा को चालू रखा। विद्वान् ब्राह्मणों का भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्मान किया जाता था। भूमिगत द्रव्य के कानून में उन्हें विशेष सुविधा प्रदान की गई थी। किसी श्रोत्रिय को यदि गड़ा हुआ धन मिल जाता था तो उस पर उसका पूर्ण अधिकार रहता था। परंतु बाकी लोगों को ऐसी अवस्था में सोलह प्रतिशत कर चुकाना पड़ता था। राजा भी इसमें अपवाद नहीं था। राजा को यदि कोई हंडा मिल जाता था तो उसे उसमें का आधा धन ब्राह्मणों में बाँट देना पड़ता था। मुद्दत संबंधी कानून में सामान्यतः मुद्दत ३० वर्ष की होती थी। परन्तु विद्यार्जन के लिए गुरुगृह में रहने वाले ब्रह्मचारी की संपत्ति का यदि कोई अपहरण कर लेता था तो उस संपत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए ५० वर्ष तक भी दावा किया जा सकता था।

वैदिक शिक्षण पद्धति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसमें विद्या-मंदिर राजसत्ता के गुलाम नहीं थे। विद्वान् एवं तपस्वी ही उनके सर्वश्रेष्ठ नियन्त्रक हुआ करते थे। शिक्षण से किसी भी प्रकार का संबंध न रखने वाले किंतु फिर भी शिक्षामंत्री, प्रशिक्षणाधिकारी आदि भिन्न भिन्न ऊपरी नातों से विद्यामंदिरों के लिए लड़ाकू सास जैसी भूमिका निबाहने वाले लोगों का प्रपंच वैदिक राष्ट्र में नहीं था। **"विनीतवेषेण नाम प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि"** अर्थात् तपोवन में विनयपूर्वक एवं सभ्यता से ही प्रवेश करना चाहिए, इस प्रकार के वचन एक ऋषिकुमार भी राजा से कह सकता था। लड़का जिस प्रकार का मान पिता को देता है उसी प्रकार का मान राजा को भी श्रोत्रिय के लिए देना पड़ता था। वैदिक शिक्षण पद्धति एक श्रेष्ठ राष्ट्र का विकसन केवल इसलिए कर सकी क्योंकि वह कभी राजसत्ताधीन नहीं रही; उस पर सदा ऋषियों का नियन्त्रण रहा।

अब तक वैदिक शिक्षण पद्धति का जो स्वरूप हमने देखा, उस पर से हम यह कह सकते हैं कि काल के प्रभाव से उसमें हुए स्थित्यंतरों के पश्चात् भी कुछ सिद्धान्त उसमें ऐसे हैं जो काल को भी मात करने वाले हैं तथा वे प्रत्येक कालखंड में हितकारी सिद्ध होंगे। और आज जब भारत में राष्ट्र-पुनर्गठन के निमित्त जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के पुनरसंगठन का प्रयास चल रहा है, उस समय शैक्षणिक क्षेत्र में वैदिक शिक्षण-पद्धति के मूल तत्व पर्याप्त मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। गत डेढ़ सौ वर्षों के पारतंत्र्य के कारण तथा उस पारतंत्र्यकाल में किये गये विशिष्ट प्रकार के संस्कारों के फलस्वरूप भारतवर्ष के बौद्धिक क्षेत्र में पाश्चात्यों की वैचारिक दासता का निर्माण हुआ है। इस दासता के कारण राष्ट्र जीवन के विभिन्न अंगों में जो अनेक दुष्परिणाम हुए उनमें सर्वाधिक भयंकर है भारतीय शिक्षण द्वारा पाश्चात्य शिक्षण पद्धति का अनुकरण। आज भी वह स्थिति बदली नहीं है और इस कारण पाश्चात्य पद्धति के दोष भी हममें प्रगट हो रहे हैं। या यों कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि केवल उनके दोषों के ही हम भागीदार बने हैं, क्योंकि उनके गुणों से हमारा सम्बन्ध परिस्थितिवश आ ही नहीं सका है। आज पाश्चात्य राष्ट्रों में सबसे अग्रणी हैं अमेरिका व रूस। उनकी शिक्षण प्रणालियों का यदि हम अध्ययन करें तो हमें दिखाई देगा कि उनमें कुछ मूलभूत दोष विद्यमान हैं तथा अंधानुकरण के कारण वे मूलभूत दोष आज की भारतीय शिक्षण प्रणाली में संक्रमित होने लगे हैं। अमेरिकन शिक्षण प्रणाली में कुछ बातें अच्छी हैं। इंग्लेंड में अभी तक यह धारणा है कि शिक्षणदान जनता का कर्तव्य है तथा, जब कभी शासकीय भूमिका की आवश्यकता पड़े, तो वह सहायक के रूप में ही होनी चाहिए। किन्तु इंग्लेंड से अलग हो जाने के पश्चात् अमेरिका ने शिक्षण को सरकार का ही कर्तव्य मानकर अपने राष्ट्र के शैक्षणिक क्षेत्र में द्रुतगति से प्रगति की। शिक्षण के क्षेत्र में गरीब-अमीर का भेद नष्ट कर प्रत्येक व्यक्ति के लिए शिक्षण के समान अवसर (Equality of opportunity) उपलब्ध कराये। और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन भारत का अनुकरण करते हुए सम्पूर्ण शिक्षण को निःशुल्क बना दिया। किन्तु · · · · ?

पाश्चात्य पद्धति के दोष

अमेरिकन व समस्त पाश्चात्य पद्धतियों में जीवन का सुगठन करने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अभाव एक बड़ा भारी दोष है। व्यक्ति जीवन अथवा सामाजिक जीवन सम्बन्धी किसी प्रकार का मूलभूत विचार उनके पास नहीं है और इस कारण आन्तरिक जीवन विकसित करने की किसी भी प्रकार की प्रक्रिया का उनके पास सर्वथा अभाव है। उसका महत्व

भी वे नहीं समझ पाये हैं। जीवन की आध्यात्मिक धारणा के कारण उत्पन्न होने वाले वैयक्तिक एवं सामाजिक गुणों की आज अमेरिका में आवश्यकता है। परन्तु इन समस्त गुणों के लिए आधारभूत, आध्यात्मिक तत्वज्ञान के सुदृढ़ दृष्टिकोण के अभाव में किसी भी प्रकार के सदाचार अथवा नैतिक व्यवहार को स्थैर्य प्राप्त नहीं हो सकता। सर्वधर्मपंथभेदातीत आध्यात्मिक आधार का समस्त योरोप के जीवन में तथा उनके शैक्षणिक क्षेत्र में भी पूर्णरूप से अभाव है। सदाचार एवं नीतिमूल्यों का आधार ही अनिश्चित होने के कारण यहां के शैक्षणिक क्षेत्र में उनकी खरी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अमेरिकन शिक्षण प्रणाली में ध्येयशून्यता भी एक दूसरा बड़ा विलक्षण दोष है तथा आधुनिक अमेरिकन शिक्षणशास्त्रज्ञों को उसका अनुभव भी होने लगा है। बहुजन समाज को शिक्षित करना शिक्षण का ध्येय होने के कारण गिने चुने बुद्धिमान् विद्यार्थियों की प्रगति कुंठित हो जाती है और इस प्रकार इस शिक्षण पद्धति में श्रेष्ठों को अतिश्रेष्ठ होने की कोई विशेष सुविधा विद्यमान नहीं है। आजकल अवश्य वैसी सुविधा उत्पन्न करने के प्रयत्न चले हैं। इधर रूस में शिक्षण यद्यपि सार्वत्रिक रूप से तथा विशाल पैमाने पर दिया जाता है, किन्तु जो तंत्र उन्होंने अपनाया है उससे एक विशेष साँचे में ढले हुए लोग ही निर्माण हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि वहां का शिक्षण एक प्रणाली-विशेष के दास निर्माण करने का एक कारखाना मात्र है। इतिहास और समाजशास्त्र ही नहीं, अनुसंधानशालाओं के द्वारा भी कम्युनिस्टों का अतिरेकी प्रचार हुआ करता है। रूस में तो शिक्षण के सम्बन्ध में पक्षपात भी बरता जाता है। सर्वप्रथम कम्युनिस्ट पंथ के अनुयायियों को, तदनंतर मजदूर वर्ग को और तत्पश्चात् यदि सुविधा हो तो अन्य लोगों को शिक्षण दिया जाता है। एक ही सांचे में सम्पूर्ण पीढ़ी को डालने के इस उपद्व्याप के कारण वहां केवल बौद्धिक दास ही निर्माण होते हैं। समस्त पाश्चात्य शिक्षण पद्धति में एक सबसे बड़ा दोष यह है कि वहां शिक्षण का पवित्र मंदिर राजसत्ताधीन है। वहाँ ज्ञान ने सत्ता का दासत्व स्वीकार किया है तथा अध्यापक राजा के गुलाम बने हुए हैं। भारत के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ। उसी प्रकार वहाँ के शिक्षण का स्वरूप एक कारखाने जैसा होने के कारण वह व्यक्तित्व विकसन के लिए बाधक सिद्ध हुआ है। शिक्षण का ध्येय संस्कार देना नहीं रहा, एक आर्थिक स्तर प्रदान करना मात्र ही उसका उद्देश्य रह गया और इस कारण शिक्षण को व्यापार का स्वरूप प्राप्त हो गया। शिक्षक के प्रति उच्च भावना नष्ट हो गई तथा उसका महत्व व स्थान द्रव्य देने वाले मालिक की चाकरी करने वाले सामान्य नौकर के अतिरिक्त और कुछ न रहा। प्रस्थापित सत्ता को चिरस्थायी बनाये रखना ही शिक्षणयंत्र का आज उद्देश्य रह गया है। आज का भारतीय शिक्षणतंत्र भी उसी दिशा में गतिमान

होने के कारण उसमें भी यह दोष दृढ़मूल होना प्रारम्भ हो गया है।

निष्कर्ष एवं सिद्धान्त

आज की इस अवस्था में सभी के लिए और विशेषतः भारत के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होने वाले वैदिक शिक्षण पद्धति के सिद्धान्तों का गम्भीरतापूर्वक चिंतन करना आवश्यक जान पड़ता है। वैदिक राष्ट्र की शिक्षण प्रणाली का अब तक जो दिग्दर्शन किया गया है, उसके आधार पर निम्नलिखित कुछ निष्कर्ष एवं सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं—

(१) जीवन की विश्वात्मधारणा का दृष्टिकोण वैदिक समाज रचना में अंतर्निहित होने के कारण वैदिक शिक्षण पद्धति में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का न केवल अंतर्भाव ही था, अपितु वह उसका आधार भी बना हुआ था।

(२) आध्यात्मिक दृष्टि से देवत्व को प्राप्त करने वाले तथा भौतिक दृष्टि से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रेसर होने वाले सामर्थ्ययुक्त एवं वैभव-सम्पन्न समाज का निर्माण ही शिक्षणप्रणाली का उद्देश्य था।

(३) आदर्श समाज वही कहलाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन आदर्श हो। और इस कारण व्यक्तित्व का विकसन करना (Development of personality) व आदर्श व्यक्तिजीवन उत्पन्न करना वैदिक शिक्षण पद्धति का लक्ष्य था।

(४) व्यक्ति विकसन में शीलसंवर्धन, उत्तम गुणों का पद्धतियुक्त परि-पोष एवं स्वकर्त्तव्यपरायणता का निर्माण अभिप्रेत था।

(५) आश्रमसंस्था के द्वारा विद्यार्थी जीवन को नगर के विलासी वाता-वरण से पूर्णरूपेण अलिप्त रखा जाता था। नागरी जीवन के संघर्षों का भी विद्यार्थियों के जीवन पर किसी प्रकार का परिणाम नहीं होने पाता था और इस कारण शुद्ध संस्कार प्राप्त करने योग्य वातावरण वहाँ सदैव बना रहता था।

(६) आश्रम अथवा गुरुकुल के जीवन में सबके साथ समान रूप से व्यवहार होने के कारण तथा वेष और व्यवहार में अत्यंत सादगी एवं समा-नता विशेष रूप से बर्ती जाने के कारण किसी भी प्रकार के वैषम्य का संस्कार मन के ऊपर नहीं होने पाता था।

(७) आर्थिक परिस्थिति एवं शिक्षण में आज जो अविभाज्य संबंध उत्पन्न हुआ है उसका वैदिक पद्धति में लेश मात्र भी नहीं था। ब्रह्मचर्याश्रम में भैक्ष्यचर्या अनिवार्य होने के कारण विद्यार्थी जीवन स्वावलंबी एवं परिस्थिति-निरपेक्ष हुआ करता था तथा किसी में भी न्यूनाधिक्य की भावना का निर्माण नहीं हो पाता था।

(८) आश्रम व गुरुकुल में रहने वाले विद्यार्थियों की संख्या थोड़ी होने के कारण वैयक्तिक संस्कार करना सुलभ था। आज जिस प्रकार शिक्षणयंत्र को एक निर्जीव कारखाने का स्वरूप प्राप्त हो गया है, वैसा उस काल में संभव ही नहीं था।

(९) शिक्षण निःशुल्क था, इस कारण सभी को शिक्षण प्राप्त करने की सुविधा थी। साथ ही विद्या के महत्व का संस्कार सतत रूप से मनःपटल पर अंकित किये जाने के कारण, शिक्षण को अर्थोपार्जन का साधन मात्र समझने के स्थान पर उसे श्रेष्ठ जीवन का गठन करने वाली संजीवनी के रूप में माना जाता था।

(१०) श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने वाले आचार्यों के प्रत्यक्ष अनुशासन में सदा रहने के कारण तथा उन लोगों का आदर्श जीवन सदैव आँखों के समक्ष विद्यमान रहने के कारण विद्यार्थीजीवन के बिगड़ने की अथवा उसमें उच्छृंखलता या स्वैराचार निर्माण होने की संभावना ही नहीं रहती थी।

(११) शिक्षण को धार्मिक संस्कार बनाने के कारण तथा ब्रह्मचर्यव्रत को उसके साथ संलग्न कर देने से उसके द्वारा समस्त शक्तियों का विकास, पवित्रता की भावना के साथ होता था। ब्रह्मचर्याश्रम में विभिन्न प्रकार के निर्बंध हुआ करते थे। परन्तु उनका हेतु स्वाभाविक शक्ति एवं मनोवृत्ति को कुचलने अथवा दबा देने के लिए नहीं होता था, प्रत्युत उनका उद्देश्य उन्हें योग्य दिशा देना रहता था, जिससे उनमें अधिक सामर्थ्य प्रगट हो सके। ब्रह्मचारी को उपवास न कर भरपेट खाना चाहिए किंतु उसका असर रजोगुणी अथवा तमोगुणी न हो, उसे आत्मसंयम के द्वारा अपने शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमताओं का संपूर्ण परिपोष एवं विकास करना चाहिए आदि बातें उन्हें बताई जाती थीं। इन निर्बंधों तथा इस तपस्यामय जीवन का हेतु यही था कि आगे चलकर वे सुखपूर्वक गृहस्थाश्रम का अंगीकार कर सकें तथा समाज एवं देवत्व के लिये अपने जीवन का उपयोग करने के निमित्त आवश्यक गुणों का संचय कर सकें।

(१२) प्राचीन भारतीय शिक्षण प्रणाली के ऊपर एक आक्षेप यह किया जाता है कि उसमें एकराष्ट्रीयत्व की भावना उत्पन्न करने की व्यवस्था नहीं थी। परन्तु ऐसा कहना गलत एवं अनैतिहासिक है। हिन्दुस्थान सरीखे विशाल भूमिखंड वाले देश में विभिन्न भाषाओं एवं प्रान्तों के भेदों को लाँघकर समान श्रद्धाकेन्द्रों के सूत्र में कोट्यवधि हिंदुसमाज को पिरोना एवं उसे सहस्रावधि वर्षों तक टिकाये रखना जिस शिक्षापद्धति के द्वारा संभव हो सका, उसमें एकराष्ट्रीयत्व की कल्पना नहीं थी यह कहना वास्तव में कितनी बड़ी धृष्टता है! आज सहस्रावधि वर्षों से भाषा भेद, वंश भेद, प्रांत भेद आदि अनेक भेदों को

पचाते हुए भारतीय संस्कृति का जो समान स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसका तथा समान धार्मिक आचार, समान श्रद्धाकेन्द्र, समान नैतिक कल्पना, समान तत्वज्ञान विषयक परम्परा, समान बंधु भाव, देश के व उसके पावित्र्य के संबंध में आत्मीयता की समान उत्कट अनुभूति आदि एकराष्ट्रीयत्व निर्माण करने वाली समस्त बातों का निर्माण इस शिक्षा प्रणाली के द्वारा ही इस विशाल भूप्रदेश में हुआ तथा सहस्रावधि वर्षों तक अक्षुण्ण रखा गया; यह बात ही उक्त आरोप की निराधारता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

(१३) धन के लिए विद्यादान करना तिरस्करणीय समझने वाले तथा तपस्या एवं ज्ञानमय जीवन व्यतीत करने वाले ऋषि ही भारतीय विद्यापीठों के आचार्य हुआ करते थे और उनका ही वैदिक राष्ट्र के शिक्षण के ऊपर सर्वतंत्रस्वतंत्र सर्वाधिकार रहा करता था।

(१४) वैदिक राष्ट्र के विद्या मंदिर कभी भी राजसत्ता के गुलाम नहीं रहे; उल्टे राजा गण ही अपने आप को उनका सेवक माना करते थे। राजपुत्र की भी पिटाई करने का नैतिक अधिकार प्रसंग विशेष पर विद्यापीठ के आचार्य प्रयोग में लाते थे। राजा लोग धर्म के नाते विद्यादान के कार्य में बिना शर्त सहायता दिया करते थे। विद्या मंदिरों में वे विनयपूर्वक ही प्रवेश किया करते थे। विद्यामंदिरों एवं शिक्षण प्रणाली के ऊपर धन एवं सत्ता का किंचित् भी अधिकार नहीं रहता था। वे संपूर्णरूप से स्वतंत्र थे।

वैदिक राष्ट्र की शिक्षण प्रणाली में विद्यमान इन तत्वों का यदि हम विचार करें तो वैदिक राष्ट्र का श्रेष्ठ जीवन कैसे विनिर्मित हुआ तथा उसका निर्माण करने में कैसा पराकाष्ठा का प्रयत्न हुआ करता था, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आज शैक्षणिक पुनर्गठन के प्रश्न को हल करते समय इन निकषों का उपयोग करना हमारे लिए परमावश्यक है। उनमें से सबका नहीं तो कम से कम तीन—अर्थात् (१) राजसत्ता की दासता से अलिप्ति (२) व्यक्तिगुणविकास व संस्कार तथा (३) आध्यात्मिक दृष्टिकोण—का ही यदि हम अंगीकार करें तो भारत पुनश्च एक बार अपने प्राचीन तेज से समुद्भासित हुए बिना रहेगा नहीं। इसी आशय के विचार राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू ने भी समय समय पर व्यक्त किये हैं, किंतु आज के वास्तविक सत्ताधारी उस मार्ग का अंगीकार करते हैं या नहीं, यही प्रश्न है। आज तो स्थिति यह है कि वे यदि इस ढंग का मूलभूत विचार ही करते हैं तो उसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए। अस्तु।

दीक्षान्त उपदेश

इस प्रकार के श्रेष्ठ संस्कारों की भट्टी में से राष्ट्रजीवन के योग्य घटक बनकर निकलने वाले विद्यार्थियों को समावर्तन संस्कार के पश्चात्

प्रत्यक्ष समाज जीवन में प्रवेश कराते समय वैदिक आचार्य जो स्फूर्तिशाली उपदेश दिया करते थे, वह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अंत:पटल पर अंकित कर रखने योग्य है। वह उपदेश इस प्रकार का है—

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥ मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव ॥२॥ यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणस्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः ॥"

(तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षाध्याय)

(वेदाध्ययन की समाप्ति के पश्चात् विदाई देते समय आचार्य शिष्य को निम्नानुसार उपदेश देते थे—"सदा सत्य बोलना तथा अपने कर्त्तव्य को पहचानते हुए धर्मानुसार व्यवहार करना। सीखी हुई विद्या को प्रमाद के कारण भूलना मत। आचार्यों को उनकी इच्छानुसार गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करो। सन्तानरूपी सूत्र को तोड़ने का कारण न बनना। प्रमाद के कारण सत्य को भूल न जाना तथा धर्म की ओर दुर्लक्ष न करना। अपने भौतिक कल्याण व उसे साध्य करा देने वाली बातों की ओर उपेक्षा-भाव न रखना। अपने कल्याण मार्ग से विचलित न होना। किये हुए अध्ययन का पुनः पठन करते हुए उसे ज्वलंत रखना तथा और अधिक अध्ययन करना अपना कर्तव्य है, इसे न भूलना। धर्म के नाते बताये गये देवकार्यों व पितृकार्यों को कभी भी टालना मत। मातृपरायण, पितृपरायण, आचार्यपरायण तथा अतिथिपरायण बनना क्योंकि वह तेरा कर्त्तव्य है। चारों ओर जो श्रेष्ठ पुरुष होंगे उनके निर्दुष्ट एवं अच्छे कर्मों का अनुकरण करना, उनकी बुरी बातों के पीछे न जाना। (क्योंकि मनुष्य की श्रेष्ठता के ऊपर उनकी कृति की अच्छाई अवलम्बित नहीं है।) हम तेरे गुरु हैं किन्तु हममें जो अच्छा हो उनका ही अनुकरण करना, अन्य बातों का अनुकरण मत करना। श्रेष्ठ व गुरुतुल्य पुरुष जब पधारें तब आसन देकर उनका सम्मान करना तेरा कर्तव्य है। जो भी दान देना हो उसे श्रद्धापूर्वक देना, अश्रद्धा से न देना। अपने वैभवानुरूप दान देना। बेकार कंजूसी न करना। जो देना हो उसे

विनयपूर्वक देना। मन में धर्म व ईश्वर का भय रखना तथा इस प्रकार दान देना कि उनका अतिक्रमण न होने पाये। दान सदा ज्ञानपूर्वक ही देना। समाज जीवन में व्यवहार करते समय कर्म अकर्म के संबंध में तथा किस समय कैसा व्यवहार किया जाय, इस संबध में यदि कोई संशय उत्पन्न होवे तो उस समय समदर्शी, विचारवान्, कर्मनिष्ठ, लोभादि विकारों के परे रहने वाले तथा कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की भावना से आचरण करने वाले धर्मपरायण ब्राह्मणों के तत्सम प्रसंगों पर किये गए वर्तनानुसार व्यवहार करना।

राष्ट्र जीवन में प्रवेश करते समय वैदिक राष्ट्र के विद्यार्थी का जीवन किस साँचे में ढला हुआ होता था, उसके गुरु किस योग्यता के होते थे तथा वह स्वयं किस पद्धति से व्यवहार करता था आदि बातों का स्पष्ट चित्र उपरोक्त उल्लेख में चित्रित हुआ है। इससे अधिक श्रेष्ठ उपदेश जगत् के शिक्षा-विषयक साहित्य में प्राप्त होना संभव नहीं।

५

वैदिक स्त्री

वेदों में स्त्रियों के गृहजीवन का अधिकार पुरुषों की बराबरी का माना गया है तथा समस्त वैदिक साहित्य में इस आशय के कई उद्गार प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण का वचन "अर्धो ह वा एष आत्मनो यत् जाया" (स्त्री अपना आधा भाग है) वैदिक स्त्रियों की योग्यता प्रगट करता है। धार्मिक दृष्टि से उन्हें यत्किंचित् भी अपात्र नहीं समझा जाता था। उल्टे यदि पुरुष विवाह करने से इन्कार कर दे तो उसे ही ऐसी अपात्रता का अधिकारी बनना पड़ता था। शतपथ ब्राह्मण के वचन "अयज्ञीयः वा एष य अपत्नीकः" (जो विवाह नहीं करता वह अयज्ञीय अर्थात् यज्ञकर्म के लिए अपात्र है) में इस प्रकार की अपात्रता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है तथा उसमें आये हुए पत्नी शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञकर्म में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के समकक्ष था। तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि यज्ञ के समय स्त्री का व्रतोपनयन हुआ करता था तथा पति के साथ साथ उसे भी यज्ञदीक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद में ऐसे वर्णन हैं जहाँ पति-पत्नी ने यज्ञ में साथ साथ विभिन्न कर्म सम्पादित किये हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के निम्नलिखित वर्णन देखिए—

या दंपती समनसा सुनुतः आ च धावतः।
देवासो नित्ययाऽऽशिरा ॥५॥
इति प्राशव्यान् इतः सम्यञ्चा बर्हिर् आशाते
न ता वाजेषु वायतः ॥६॥
न देवानां अपि ह्नुतः सुमतिं न जुघुक्षतः।
श्रवो बृहत् विवासतः ॥७॥
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वं आयुर्वि अश्नुतः।
उभा हिरण्यपेशसा ॥८॥

—ऋग्वेद ८-३१

"जो पति-पत्नी अत्यंत मनःपूर्वक निचोड़कर सोमरस तैयार करते हैं तथा हे देवो, जो उस रस को विशुद्ध दुग्ध की हवि से मिश्रित कर छानकर स्वच्छ करते हैं, उन दोनों को उत्तम अन्न की प्राप्ति होती है। उनका

विचारैक्य निश्चल रहता है तथा यज्ञ पूर्णता को प्राप्त होता है। उन्हें सामर्थ्य की कमी कभी नहीं पड़ती। वे देवों से प्रतारणा नहीं करते और न ही अपना प्रेमभाव छिपाकर रखते हैं। इस कारण वे बहुत ख्याति प्राप्त करते हैं। वे दोनों पुत्रों एवं कन्याओं से युक्त होकर तथा सुवर्ण के समान अंगकान्ति रखते हुए अपना समस्त आयुष्य उत्तम रीति से बिताते हैं।" यज्ञ-प्रकृतिक आर्यों के यज्ञकर्म में पुरुषों के समकक्ष भाग लेने वाली स्त्रियों को गृहजीवन में भी श्रेष्ठ समझा जाता था, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों के संबंध में ऋग्वेद ने तो कहा है—"**जायेदस्तं**" (ऋ० ३, ५३, ४) अर्थात् 'पत्नी ही गृह है' और उसका विशदीकरण करते हुए मनु कहते हैं—"**न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते**" अर्थात् 'केवल घर ही घर नहीं है वास्तविक घर तो पत्नी है।' बृहदारण्यकोपनिषद् में इस संबंध में एक अतिशय उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें आर्यों की स्त्रीविषयक श्रेष्ठ धारणा व्यक्त होती हैं।

अर्धांगिनी

आगे चलकर इसी का अनुवाद पुराणादि साहित्य में हुआ है। वैदिक संस्कृति का सिद्धान्त है कि स्त्रीजीवन एवं पुरुष जीवन के संयोग से ही जीवन में वास्तविक पूर्णता आती है। इस सिद्धान्त का जो भी बारीकी से निरीक्षण करेगा उसे आजकल के जड़वाद में से निकले उस विकृत दृष्टिकोण के प्रति तिरस्कार उत्पन्न हुए बिना न रहेगा, जिसमें स्त्री को केवल एक भोग्य वस्तु माना गया है तथा जिसके कारण ही मासिकों के मुखपृष्ठों से लेकर कथा-उपन्यासों व चित्रपट विज्ञापनों तक सर्वत्र ही स्त्रीशरीर का निर्लज्ज प्रदर्शन किया जाता है और ऊपर से स्त्रीस्वातंत्र्य एवं औदार्य की कल्पनाओं का ढोंग रचा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१-४-३) में कहा है—"**स वै नैव रेमे तस्मात् एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् तस्मादिदं अर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते एव तां समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त**" (परमेश्वर स्वतः अपने में रममाण नहीं हो सका। उसे दो होने की अथवा अनेक होकर रहने की इच्छा उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मनुष्य भी अकेले में रममाण नहीं हो सका। उसे जब दो होने की इच्छा हुई तब उसने अपने स्वतः के दो भाग किये। ये दो भाग ही पति और पत्नी हैं। स्त्री-पुरुषों के मिलन से ही पूर्ण जीवन उत्पन्न होता है। पुरुष के जीवन का अपूर्ण भाग स्त्री के द्वारा ही पूर्ण होता है। पुरुषजीवन की रिक्तता को स्त्री ही पूरित करती है। स्त्री से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है।) बृहदारण्यक के इसी सिद्धान्त का वाजसनेय ब्राह्मण में निम्नानुसार विस्तार हुआ है—"**अर्धो ह वा एष आत्मनः तस्मात् यत् जायां न विन्दते नैतावत् प्रजायते असर्वो हि तावत् भवति अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ**

प्रजायते तर्हि सर्वो भवति" (स्त्री पुरुष का आधा भाग है। जब तक जाया प्राप्त नहीं होती, तब तक जीवन अपूर्ण रहता है। जब जाया की प्राप्ति हो जाती है, तब स्वतः पति ही उसके सहारे उत्पन्न होता है और इस कारण उसे जीवन की पूर्णता का लाभ होता है।) संस्कृत में जाया शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ से हुई है। वैदिक साहित्य में दिये हुए इस सृष्टिक्रम का अनुवाद करते हुए भागवत पुराण में कहा गया है कि ब्रह्मदेव अथवा आद्य प्रजापति के समाधि में निमग्न रहते समय उनके शरीर के दो समान विभाग हो गये। उनमें से पुरुष रूप विभाग मनु था तथा स्त्रीरूप विभाग शतरूपा। ये ही मानवों के आदिपूर्वज थे तथा आगे चलकर इन्हीं से समस्त प्रजा की उत्पत्ति हुई।

कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥५२॥
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभूत् मनुः स्वायंभुवः स्वराट्।
स्त्री याऽऽसीत् शतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥५३॥
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधां बभूविरे।

—श्रीमद्भागवत ३-१२

एक मराठी कवि ने इस घटना का इस प्रकार मनोरम वर्णन किया है—

समाधींत त्या जगत्पित्याची दुभंग झाला तनू।
एक भाग तो शतरूपा दुजा जाहला मनू ॥

(समाधि अवस्था में जगत्पिता के शरीर के दो भाग हो गए। एक शतरूपा बना तथा दूसरा मनु।) पूर्ण जीवन की भारतीय कल्पना में स्त्री का स्थान कितना श्रेष्ठ है तथा उसकी ओर देखने का वैदिक दृष्टिकोण किस प्रकार का है, यह इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। यही कारण है कि यज्ञप्रकृतिक आर्यों ने यज्ञक्रिया में स्त्रियों को बराबरी का स्थान दिया है।

उपनयन एवं वेदाध्ययन

यज्ञक्रिया में स्त्रियों के भाग लेने की बात आते ही उनके उपनयन संस्कार की आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। और एतदर्थ वेदकाल में स्त्रियों के उपनयन की भी व्यवस्था थी। यही नहीं, अथर्ववेद के **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** (ब्रह्मचर्य व्रत के कारण कन्या को अनुरूप वर की प्राप्ति होती है) सरीखे उल्लेखों से पता चलता है कि उपनयन के पश्चात् उन्हें अध्ययन एवं ब्रह्मचर्य व्रताचरण में भी कुछ काल व्यतीत करना पड़ता था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी स्त्रियों को पुरुषों के समान दीर्घकाल तक उसका पालन करना पड़ता था। वास्तव में प्रत्येक वस्तु की श्रेष्ठता उस क्षेत्र में उस वस्तु की उपयुक्तता पर अवलम्बित रहती है। जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में स्त्री का

जो विशिष्ट कर्तव्यक्षेत्र है उसके अनुरूप ही सृष्टिकर्ता ने उसे शरीर एवं स्वभाव-विशेष प्रदान किये हैं। और इसलिए उसके शिक्षण एवं संस्कारों की ऐसी योजना बनाना आवश्यक है कि उससे उसके जीवन का परिपोष हो सके और वह अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में प्रभावी रूप से अग्रेसर हो सके। वैदिक राष्ट्र के प्रणेताओं ने यह सब सोचकर ही स्त्री जीवन की रचना की थी। स्त्री के स्त्रीत्व को मिटाकर उसे पुरुष बनाना सर्वथैव विघातक है, यह बात आजकल के जापान आदि पौर्वात्य राष्ट्रों ने पहले ही समझ रखी है तथा पाश्चात्य विद्वान भी अब इस बात का अनुभव करने लगे हैं। किन्तु फिर भी यदि कुछ विशिष्ट मनोरचना वाली स्त्रियाँ केवल विद्योपासना में ही अपना जीवन बिताने की इच्छा प्रगट करती थीं, तो उन्हें वैदिक राष्ट्र में वैसा करने की मनाई नहीं थी। वेदमंत्रों के द्रष्टाओं की सूची में घोषा, लोपामुद्रा आदि स्त्रियों का जो अंतर्भाव हुआ है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। आगे चलकर स्मृतिकाल में कुछ कारणों से स्त्रियों का उपनयन बंद हो गया तथा यज्ञकर्म में उनका भाग औपचारिकता तक ही सीमित रह गया। पति के हाथ के साथ अपना हाथ लगा देना ही उनके यज्ञाधिकार का स्वरूप बन गया। कारण इसका भले ही कुछ भी रहा हो, किंतु इतना तो स्पष्ट है कि वेदों के काल में ऐसी बात नहीं थी। दैनंदिन जीवन में आवश्यक वैदिक मंत्रों का ज्ञान तथा दैनिक जीवन की विहित वैदिक विधियों को सम्पन्न करने की पात्रता वैदिक स्त्रियों में होती थी। गृह्याग्नि अथवा स्मार्ताग्नि में रात्रि का होम पत्नी को ही करना पड़ता था। गृह्यसूत्रानुसार तो वह इच्छा होने पर प्रातर्होम भी कर सकती थी। गोभिल ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—**"कामं गृह्ये अग्नौ पत्नीः जुहुयात् प्रात-र्होमौ"** (गोभिल गृह्यसूत्र १, ३) अर्थात् रात्रि का होम तो स्त्री को करना ही चाहिए, किंतु यदि वह चाहे तो प्रातःकाल का होम भी कर सकती है। नई फसल के समय किया जाने वाला 'सीतायज्ञ' तो स्त्रियों द्वारा ही किये जाने की परिपाटी थी। इतिहास साहित्य के अनुसार भी स्त्रियां अग्निकार्य आदि किया करती थीं। ऐसे अनेक उल्लेख हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि स्त्रियाँ मंत्रवेत्ता हुआ करती थीं। वनवास के लिए प्रस्थान करने के पूर्व अपनी माँ से बिदा लेने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचंद्र जी जब माता कौसल्या के महल में आये उस समय कौसल्या के स्वरूप का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं—

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्रवित् कृतमंगला ॥१५॥

—वाल्मीकि रामायण अयोध्या कांड अ० २०

"कौसल्याजी ने रेशमी वस्त्र धारण किये थे। रामचंद्र का राज्याभिषेक

होगा इस कल्पना से उनके मुख पर समाधान झलक रहा था। सदा ही व्रतपरायण रहने वाली तथा मंत्रवेत्ती कौसल्या उस समय मंगल होम कर रही थी।" रामायण से पता चलता है कि स्त्रियाँ संध्योपासना किया करती थीं। बहुत खोज करने पर भी जब हनुमान जी को जानकी जी के दर्शन नहीं हुए तब वे नदी के किनारे आये तथा सायंकाल तक वहाँ बैठकर रास्ता देखने का उन्होंने निश्चय किया। उनका विश्वास था कि सायंकाल को संध्यावंदन के निमित्त जानकी जी अवश्य ही नदी किनारे आयेंगी। हनुमान जी कहते हैं—

संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदी चेमां शुभजलां संध्यार्थं वरवर्णिनी।।४८।।

—वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकांड अ० १५

(वरवर्णिनी लावण्यमयी जानकी जी संध्याकाल होते ही संध्योपासना के लिए अवश्य ही नदी किनारे आयेंगी।) इससे यह स्पष्ट है कि स्त्रियों का उपनयन अवश्य होता होगा। हारीत ने तो स्त्रियों को दो वर्गों—सद्योद्वाहा व ब्रह्मवादिनी—में बाँट दिया है। उसका कथन है कि कुछ स्त्रियाँ उपनयन के पश्चात् थोड़े ही समय में विवाह कर लेती थीं तथा कुछ वेदाध्ययन में ही अपना समय व्यतीत किया करती थीं। विवाह करने वाली सद्योद्वाहा तथा अध्ययन में समय लगाने वाली ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। ब्रह्मवादिनियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए हारीत कहते हैं—

"तत्र ब्रह्मवादिनीनां अग्नीधनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्यचर्या।" अर्थात् ब्रह्मचर्य के तीनों ही नियम—अग्नि में हवन करना, वेदों का अध्ययन करना तथा भैक्ष्यचर्या स्त्रियों के लिए लागू होते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि उन्हें कहीं बाहर से भिक्षा न माँगकर अपने ही घर के कुटुम्बियों से माँगना पड़ता था। इस प्रकार विवाह न करते हुए चिरकाल तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली स्त्रियों को तत्कालीन समाज में आज के अथवा मध्यकाल के समान बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। बल्कि वेद साहित्य से तो यह पता चलता है कि उस काल में माता पिता परमेश्वर से इस बात की प्रार्थना किया करते थे कि उनकी लड़की पंडिता व ब्रह्मवादिनी बने और इसके लिए वे तिल और चावल को एकत्र उबालकर उनका होम किया करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस विधि का निम्नानुसार उल्लेख किया गया है—**"अथ य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जाये त सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मंतं अश्नीयातां ईश्वरौ जनयितवै"** (बृह० ६-४-१७)। वेद व उसके पश्चात् के काल में इस प्रकार की महान् वेदविद्यास्नात ब्रह्मवादिनियों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्हें समाज में मान्यता प्राप्त थी।

राजा जनक के पास योगविद्या में निष्णात एक ब्रह्मवादिनी के आने की बात तो प्रसिद्ध ही है। श्री याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी विवाहिता होने पर भी कितनी श्रेष्ठ आध्यात्मिक योग्यता से युक्त ब्रह्मवादिनी थी, यह बात उसके व याज्ञवल्क्य के बीच हुए बृहदारण्यकोपनिषद् के संवाद से स्पष्ट है। राजा जनक की सभा में जो अनेक ब्रह्मवादी लोग थे, उनमें वाक्पटु विदुषी गार्गी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था तथा उसी ने याज्ञवल्क्य ब्रह्मवेत्ता हैं या नहीं इसकी कड़ी परीक्षा ली थी। यह बात भी बृहदारण्यकोपनिषद् के तत्संबंधी संवाद से प्रगट होती है। पतंजलि के महाभाष्य में दो शब्द 'उपाध्यायिनी' व 'उपाध्याया' आये हैं और उसमें कहा गया है कि उपाध्यायिनी शब्द शिक्षा देने वाले आचार्य की पत्नी के लिए प्रयुक्त किया जाय तथा उपाध्याया शब्द स्वयं अध्यापन करने वाली स्त्री के लिए उपयोग में लाया जाय। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक राष्ट्र की स्त्रियाँ मध्ययुगीन स्त्रियों के समान शिक्षण से वंचित नहीं रहती थीं, अपितु वे इतनी पारंगत होती थीं कि अध्ययन का कार्य भी संपन्न कर सकती थीं। भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' में अध्ययन के लिए स्थानांतर करने वाली एक विद्यार्थिनी का उल्लेख प्रसिद्ध ही है। आगे चलकर स्त्रियों का यह अधिकार समाप्त हो गया। बादरायण, जैमिनि आदि आचार्य इसी मत के थे कि स्त्रियों को यह अधिकार रहना चाहिए, किन्तु बदलती समाज स्थिति में यह अधिकार सुरक्षित न रह सका व आगे चलकर तो कुछ स्मृतिकार सीधे सीधे यही कहने लगे कि स्त्रियों के ऐसे अधिकार की बात पूर्वकल्प की है। परन्तु पूर्वकल्प वाली बात के नाते ही क्यों न हो, इन स्मृतिकारों ने स्त्रियों के इस अधिकार का जो उल्लेख किया है, उससे पहले की वस्तुस्थिति का इतिहास स्पष्ट हो सकता है। यमस्मृति में कहा है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौंजीबंधनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः।
स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्ष्यचर्या विधीयते॥

"पहले के कल्प में स्त्रियों का उपनयन हुआ करता था। उन्हें वेदविद्या पढ़ाई जाती थी तथा गायत्रीमंत्र भी उन्हें सिखाया जाता था। किन्तु इस संबंध में एक नियम अवश्य था कि केवल पिता, चचेरा भाई अथवा बड़ा भाई ही उन्हें पढ़ाये, अन्य कोई नहीं। वैसे ही भिक्षाचरण भी घर की परिसीमा में ही हुआ करता था।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन के कार्य में उत्पन्न होने वाली गड़बड़ियों को टालने की प्राचीन लोग किस प्रकार दक्षता लिया करते थे तथा अपने अध्ययन के कार्य को भी किस प्रकार चालू रखा करते थे। आगे चलकर मध्ययुगीन काल में स्त्रियों का उपनयन

व वेदाध्ययन बन्द हो गया तथा शूद्रों के समान ही उनको भी वेदाधिकार नहीं रहा। इतिहासकार इसके अनेकों कारण बताते हैं। वास्तव में जैमिनि एवं बादरायण सरीखे श्रेष्ठ धर्मवेत्ताओं ने तो यही कहा कि स्त्रियों का यह अधिकार उनसे नहीं छीना जाना चाहिए, किन्तु फिर भी तत्कालीन लोक-समाज एवं लोकनेताओं को यह अधिकार छीन लेना ही उचित जान पड़ा। इतिहासकारों ने इसके लिए अनेक उपपत्तियाँ दी हैं। आजकल के कुछ पाश्चात्य पद्धतियों के सभी हितैषियों का यह कथन है कि पुरुष जाति ने स्त्री जाति को अपनी दासता में रखने की दृष्टि से ही उन्हें वेदाध्ययन से वंचित रखने का षड्यंत्र रचा। परन्तु प्रचारार्थ बनाये गये इस आधारहीन विधान का विचार हम यहाँ नहीं करेंगे। अन्य कुछ लोगों का कथन है कि शक, पार्थियन, कुशान आदि जंगली जातियों का भारत के ऊपर अधिकार हो गया तथा उन जंगली राज्यकर्ताओं के रीतिरिवाजों का समाज में प्रवेश होने से समाज का स्त्री विषयक दृष्टिकोण बदल गया। परन्तु मुझे तो इस संबंध में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० अनंत सदाशिवराव आलतेकर का दृष्टिकोण ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वे कहते हैं,

"इन जंगली राज्यकुलों का उदय ईसा के लगभग १०० वर्ष पूर्व हुआ तथा उनका अधिकार क्षेत्र पंजाब के बाहर दीर्घकाल तक नहीं था। किन्तु यह मत कि स्त्रियाँ शूद्रों के समान हैं, महर्षि पतंजलि के पहले से अर्थात् ईसा के तीन शताब्दियों के पूर्व से ही समाज में प्रचलित था। प्रस्तुत लेखक के मतानुसार आर्येतर स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा ही स्त्रियों की अवनति का वास्तविक कारण है। वेदकाल में त्रैवर्णिकों में परस्पर विवाह हुआ करते थे। किन्तु ऐसे उदाहरण प्रायः नहीं के बराबर थे जहाँ आर्यों का दासों, शूद्रों अथवा अनार्यों से विवाह हुआ हो। आगे चलकर अनार्य स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा समाज में प्रचलित होने लगी। भीम, अर्जुन आदि के हिडिंबा, उलूपी आदि से जो विवाह हुए वे इसी कोटि के थे। पहले पहल तो इस प्रथा का किसी ने विशेष विरोध नहीं किया। परन्तु ज्यों ज्यों उसके दुष्परिणाम दिखाई देने लगे, त्यों त्यों धर्मशास्त्रकारों ने यह प्रतिपादन करना प्रारंभ किया कि आर्य यदि चाहें तो अनुलोम विवाह कर सकते हैं, किन्तु अनार्य अथवा शूद्र स्त्रियों से उन्हें कदापि विवाह नहीं करना चाहिए। इस निषेध को कुछ लोगों ने स्वीकार किया, कुछ ने नहीं। उल्टे वे इसके विपरीत कार्य करते थे। अनार्य स्त्रियों के आर्यगृहों में आने से आर्य स्त्रियों का दर्जा भी कम होने लगा। अनार्य स्त्रियों को संस्कृत नहीं आती थी। आती भी थी तो बहुत थोड़ी। इस कारण उन्हें वेदाधिकार अथवा यज्ञाधिकार देना संभव नहीं था। कई बार तो ऐसा होता था कि अनार्य स्त्रियाँ ही अपने पतियों को अधिक प्रिय हुआ करती थीं। परिणामतः धर्मकार्यों में भी

आर्य स्त्रियों की जगह अनार्य स्त्रियों को ही उनके पति अपना सहभागी बनाने लगे। इससे काफी बखेड़ा उठने लगा एवं अनाचार होने लगा। इस अनाचार को रोकने के लिए 'ऐतिशायन' गुट ने यह योजना बनाई कि स्त्रियों के पास से वेदाधिकार छीन लिया जाए। जैमिनि, बादरायण आदि ने इसका कसकर विरोध किया किन्तु वे सफल न हो सके। इस काल में स्त्रियों का विवाह तेरह चौदह वर्ष की अवस्था में ही हो जाया करता था। इस कारण उपनयन के पश्चात् अधिक वेदाध्ययन का अवसर ही नहीं मिलता था। परिणामतः उपनयन एक निरर्थक संस्कार मात्र रह गया, जिसे बनाये रखने की समाज को आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इस कारण स्त्रियों का उपनयन नहीं होना चाहिए, उन्हें वेदों का शिक्षण नहीं देना चाहिए आदि मत समाज में दिनोंदिन अधिक लोकप्रिय होने लगे। किन्तु वे रूढिगत हुए क्रमशः ही। मनु का कथन है कि स्त्रियों का उपनयन होना चाहिए, किन्तु उनसे वेदमंत्र नहीं कहलाना चाहिए। उपनयन को वे एक शारीरिक संस्कार मानते थे। संभवतः इसी कारण वेदाधिकार न होने पर भी स्त्रियों के उपनयन के लिए मनु को कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु वेदाध्ययन के बिना स्त्रियों के उपनयन का कोई अर्थ नहीं था। इस कारण तीसरी चौथी शताब्दी के समाजधुरीणों को उसे बन्द कर देना ही उचित प्रतीत हुआ। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में यह मत प्रकट किया गया है कि स्त्रियों का वेदमंत्रहीन उपनयन भी नहीं होना चाहिए। यम सरीखे इस कालखंड के कुछ स्मृतिकारों को यह अवश्य ज्ञात था कि पहले स्त्रियों का उपनयन हुआ करता था। किन्तु वह उनके काल में उपयुक्त एवं सुभीते का नहीं था, ऐसा उन्होंने अपना मत लिख रखा है। आठवीं शताब्दी के मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने तो यह सिद्ध करने का अत्यधिक प्रयत्न किया है कि स्वयं मनु भी स्त्रियों का उपनयन मान्य नहीं करते थे।" आगे के काल में भले ही कुछ भी हुआ हो, किन्तु इतना तो सत्य ही है कि वेदकाल में स्त्रियों का उपनयन हुआ करता था तथा विद्यामंदिरों में उनका सब प्रकार का प्रवेश था।

उत्कृष्ट गृहिणी और वात्सल्यमयी माँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ स्त्रियाँ तपस्या एवं विद्याध्ययन में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देती थीं। किन्तु अधिकांश स्त्रियां ऐसी होती थीं जो गृहजीवन में प्रवेश कर गृहिणी पद पर अधिष्ठित हुआ करती थीं। स्त्री भारतीय गृहजीवन का आधार है और इस दृष्टि से ऋग्वेद में भी उसके महत्व का वर्णन किया गया है। यह तो हम पहले ही देख आये हैं कि कॉमरेड डांगे का यह सिद्ध करने का प्रयत्न, कि वैदिक राष्ट्र में विवाह संस्था नहीं थी, किस प्रकार गलत है। उसी अवसर पर थोड़े में हमने यह भी देखा

कि किस प्रकार वेदों में परिपूर्ण कुटुम्ब संस्था एवं परिणत विवाहसंस्था का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद काल को ही यदि सर्वाधिक प्राचीन काल माना जाय तो ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले विवाह-विषयक उल्लेखों के द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि वैदिक राष्ट्र में विवाह संस्था पूर्ण परिणत रूप में विद्यमान थी तथा ऋग्वेदकाल में भी उसका स्वरूप वैसा ही था जैसा इतिहास के भारतीय संस्कृति के स्वर्णयुग में प्राप्त होता है। वैदिक काल में पतिपत्नी सम्बन्ध एक संस्कार माना जाता था। उस काल में भी हिन्दू-मन इतना हीन नहीं था कि विवाह को केवल एक समझौता तथा इहलौकिक जीवन तक ही सीमित एक सुविधामात्र माने। दो जीवों के अनन्त जन्म के संस्कारित सहजीवन की विचारप्रणाली वैदिक विवाह के मूल में विद्यमान थी तथा पाणिग्रहण संस्कार के द्वारा जो दो जीव एकत्र आते थे, वे ही पति पत्नी माने जाते थे। स्त्रीजीवन का ध्येय सख्य नहीं था, अपितु मातृत्व के कामगंधहीन आविष्कार के द्वारा समस्त संसार को वात्सल्य रस से परिप्लावित करना ही स्त्रीजीवन का उदात्त उद्देश्य था। सुमंगल जीवन का निर्माण एवं गार्हपत्य की आराधना ही विवाह के हेतु थे। पाणिग्रहण संस्कार एक प्रकार की संस्कार दीक्षा थी। पत्नी का पाणिग्रहण करते समय पति के मुख से ऋग्वेद ने जो वाक्य कहलवाये हैं उनके द्वारा वैदिकों की गृहजीवन, सौमंगल्य एवं दाम्पत्यजीवन सम्बन्धी आकांक्षाएं उत्कृष्ट रीति से व्यक्त होती हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के कुछ मंत्रों को लें—

गृह्णामि ते सौभगऽत्वाय हस्तं मया पत्या जरत्ऽअष्टिः यथा असः।
भगः अर्यमा सविता पुरंऽधिः मह्यं त्वा अदुः गार्हऽपत्याय देवाः॥

—ऋग्वेद १०, ८५, ३६

"तेरे सौभाग्य के लिए तेरा यह हाथ मैं अपने हाथों में लेता हूँ। मैं तेरा पति हूँ, मेरे साथ ही तू वृद्ध हो। भाग्यपति, अर्यमा, सविता, पुरंधी आदि समस्त दिव्य विभूतियों ने तुझे मेरे हाथों में इसलिए सौंपा है कि मैं गृहस्थ धर्म का पालन कर सकूँ।"

इह प्रियं प्रऽजया ते सं ऋध्यतां अस्मिन्गृहे गार्हऽपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्व अपजिव्री (इति) विदथं आवदाथः॥२७॥

नीलऽलोहितं भवति कृत्या आसक्तिः वि अज्यते।
एधन्ते अस्याः ज्ञातयः पतिः बंधेषु बध्यते॥२८॥

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मऽभ्यः वि भज वसु।
कृत्या एषा पत्ऽवती भूत्वी आ जाया विशते पतिम्॥२९॥

अश्रीरा तनूः भवति रुशती पापया अमुया ।
पतिः यत् वध्वः वाससा स्वं अंगं अभिऽधित्सते ॥३०॥

—ऋग्वेद दशममंडल सूक्त ८५

"तुझे जो कुछ रुचता हो उसकी तेरे बालबच्चों के योग से यहां अभिवृद्धि होवे। इस घर में गृहस्थ धर्म का उत्तम रीति से पालन होवे, इसका तू ध्यान रख। अपने इस पति के साथ तू एकरूप हो तथा वृद्ध होकर इतरों को भी इसी प्रकार का उपदेश दिया कर ॥२७॥ चुड़ैल या डायन का रंग लाल-नीला होता है। डायन बड़ी भयकारक होती है तथा उसकी जाति बड़ी तेजी से बढ़ती है। परन्तु उसका पति मात्र संसार-पाश में ही जकड़ा रहता है ॥२८॥ अतः तू गरीबों को वस्त्रों का दान दिया कर तथा विद्वानों व श्रोत्रियों को द्रव्य प्रदान किया कर। अन्यथा लोभरूपी डायन ही पत्नी बनकर तेरे पति के सिर चढ़ेगी ॥२९॥ पति जब लोभी बनकर स्त्री के वस्त्र से अर्थात् उसके पैसे से अपने शरीर को ढँकता है, तब उसकी इस तीव्र पापबुद्धि के कारण उसका शरीर निस्तेज हो जाता है ॥३०॥

सोमः प्रथमः विविदे गंधर्वः विविदे उत्ऽतरः ।
तृतीयः अग्निः ते पतिः तुरीयः ते मनुष्यऽजाः ॥४०॥
सोमः ददत् गंधर्वाय गंधर्वः ददत् अग्नये ।
रयिं च पुत्रान् च अदात् अग्निः मह्यं अथो (इति) इमाम् ॥४१॥

इह एव स्तम् मा वि यौष्टं विश्वं आयुः वि अश्नुतम् ।
क्रीलन्तौ पुत्रैः नप्तृभिःऽमोदमानौ स्वे गृहे ॥४२॥

आ नः प्रऽजां जनयतु प्रजाऽपतिः आऽजरसाय सं अनक्तु अर्यमा ।
अदुःऽमंगलीः पतिऽलोकं आ विश शं नः भव द्विऽपदे शं चतुःऽपदे ॥४३॥

अघोरऽचक्षुः अपतिऽघ्नी एधि शिवा पशुऽभ्यः सुऽमनाः सुऽवर्चाः ।
वीरऽसूः देवऽकामा स्योना शं नः भव द्विऽपदे शं चतुःऽपदे ॥४४॥

इमां त्वं इन्द्र मीढ्वः सुऽपुत्रां सुऽभगां कृणु ।
दश अस्यां पुत्रान् आ धेहि पतिं एकादशं कृधि ॥४५॥

संऽराज्ञी श्वशुरे भव संऽराज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननांदरि संऽराज्ञी भव संऽराज्ञी अधिदेवृषु ॥४६॥
सं अंजन्तु विश्वेदेवाः सं आपः हृदयानि नौ ।
सं मातारिश्वा सं धाता सं ऊं (इति) देष्ट्री दधातु नौ ॥४७॥

—ऋग्वेद १०.८५

सर्वप्रथम सोम ने तेरा पालन किया तथा उसके बाद गंधर्व ने तुझे पाला। तत्पश्चात् अग्नि तेरा तीसरा पालनकर्ता बना और अब चौथा मैं,

तेरा मानवी पति, तेरा पालन करूँगा ।।४०।। इसीलिए सोम ने इसे गंधर्व को सौंपा, गंधर्व ने अग्नि को दिया तथा अग्नि ने इसे मुझे प्रदान कर वैभव एवं पुत्र भी दिया है ।।४१।। तुम लोग यहीं रहो तथा बिना एक दूसरे से बिछुड़े हुए संपूर्ण आयुष्य का उपभोग करो। आनन्द से हँसते खेलते हुए अपने घर में निवास करो ।।४२।। संतति का दाता ईश्वर हम लोगों के द्वारा संतति उपजाये । आर्यजनों का प्रिय अर्यमा हमें हमारी वृद्धावस्था तक परिपुष्ट रखे । सबका कल्याण करने वाली तू अब पति के मंदिर में गमन कर तथा हम मनुष्यों के लिए तथा पशुओं के लिए भी मंगलदायक सिद्ध हो ।।४३।। तेरी दृष्टि मंगलकारक होवे तथा तू अपने पति को आयुष्य भर जीवित रखने वाली, पवित्र मनवाली तथा तेजस्विनी बने । पशुओं के ऊपर भी तेरा प्रेम रहे। तू ईश्वर भक्त बने । तेरी कोख से वीर पुत्रों का जन्म होवे तथा कल्याणरूपा तू मनुष्यों एवं पशुओं के लिए मंगलदायक सिद्ध होवे ।।४४।। हे ईश्वर इंद्र, हे कामनावर्षक, तू इसे उत्तम पुत्रवती एवं सौभाग्यवती बना । इसके दस पुत्र होवें तथा उसके पश्चात् अपने पति को ही यह ग्यारहवाँ पुत्र मानले ।।४५।। तेरा व्यवहार ऐसा हो कि ससुर को लगे, तू घर की रानी है, सास को प्रतीत हो, तू घर की मालकिन है तथा ननंद आदि को यह अनुभव हो कि तू घर की सूत्रसंचालिका है ।।४६।। समस्त दिव्य विभूतियां हमें उत्कृष्ट स्थिति में रखें। जलदेवता हमारे अंतःकरणों को एकरस बनायें तथा विश्वजीवन वायु व सृष्टिनिर्माता ईश्वर हमें सुव्यवस्थित रखें । फलदायी भाग्यदेवता भी हमारा परस्पर सहवास सदा बनाये रखें ।।४७।।

दाम्पत्य जीवन की आकाक्षाओं का तथा वैदिक आर्यों की गृहिणी से की जाने वाली अपेक्षाओं का अत्यन्त उत्कृष्ट चित्रण उपर्युक्त उद्गारों में हुआ है । घर में आने वाली नई गृहिणी को स्वतः के प्रेमपूर्ण एवं सर्वसंग्राहक व्यवहार से सास, ससुर, ननंद, देवर आदि के अंतःकरण में कौनसा श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करना चाहिए इसका स्पष्ट निर्देश देने वाले ऋग्वेदीय लोगों के बारे में यह कहना कि उन्हें दाम्पत्य जीवन एवं गृहसंस्था का ज्ञान नहीं था, या तो नितान्त मूर्खता है या पराकाष्ठा की धूर्तता। वैदिक राष्ट्र के लोगों को गार्हपत्य के लिए विवाह की आवश्यकता थी। पुत्रपौत्रों से भरेपूरे घर तथा जीवन के अंतिम क्षण पर्यंत प्रेमपूर्ण सहजीवन की उन्हें चाह थी। विवाह किनमें होना चाहिए, यह यमयमी सूक्त के **'विश्वरूपा'** व **'पापमाहुः यः स्वसारं निगच्छात्'** सरीखे उल्लेख से स्पष्ट होता है। सगोत्रादि सम्बन्धी कुछ नियम उस समय अवश्य ही अस्तित्व में रहे होंगे। एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ हुए बिना सच्चा सुखी जीवन उत्पन्न नहीं हो सकता तथा परस्पर के द्वैत को समूल नष्ट कर एकात्म प्रेम की उत्पत्ति के साथ साथ इन्द्रिय-

निग्रह, कर्त्तव्यनिष्ठा, दक्षता व स्वार्थत्याग की भी कुटुंबसंस्था को आवश्यकता होती है, इसकी उन्हें पूर्ण जानकारी थी। उनकी दृष्टि ऐसी संकुचित नहीं थी कि वे विवाह को केवल राजारानी का खेल ही समझें। उनकी आकांक्षा तो यह थी कि नई आने वाली गृहिणी कुटुम्बसंस्था के सास-ससुर, ननंद-देवर, नौकर-चाकर, अतिथि-अभ्यागत, यही नहीं तो पशुओं के अंतःकरणों में भी अपने लिए उत्कट प्रेम एवं श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर ले। ऋग्वेद में कामप्रवृत्ति का जो चित्रण किया गया है उसमें कामसंतृप्ति है, किन्तु स्वैराचार नहीं है। औरस सन्तानों की उन्हें चाह है। वंशावलि बढ़े इसी हेतु से उन्होंने कहा है कि मातृत्व की पदवी प्राप्त करने से ही गृहिणी का जीवन सफल होता है। परन्तु जो सर्वश्रेष्ठ भाव उन्होंने **'पतिमेकादशं कृधि'** में व्यक्त किया है उसका जगत् के स्त्रीविषयक साहित्य में कोई सानी नहीं है। इन शब्दों के द्वारा उन्होंने भारतीय संस्कृति के उस तत्व का स्पष्टरूपेण उल्लेख किया है जिसके अनुसार गृहस्थाश्रम के किले में रहकर विषयनिवृत्ति एवं इन्द्रियजय प्राप्त किया जाता है। ऋग्वेद ने जहां यह इच्छा व्यक्त की है कि पति-पत्नी का सहजीवन कभी भी समाप्त न हो वहाँ उन्होंने स्त्रीविषयक यह श्रेष्ठ धारणा भी प्रगट की है कि दाम्पत्यजीवन की परिणति अन्त में कामगंधविहीन जीवन में होकर स्त्री अपने पति को भी अपने वात्सल्य के पवित्र आवरण में समेट ले व विश्व की ओर देखने की उसकी दृष्टि भी ऐसी ही वात्सल्यमयी बन जाय। वैदिक लोगों को एकनिष्ठा की कितनी अधिक चाह हुआ करती थी, यह ऋग्वेद में वर्णित उन वाक्यों से प्रगट होता है जो एक ऋग्वेदकालीन पिता अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर कहा करता था।

वह कहता था—

"प्र इतः मुञ्चामि न अमुतः सुबद्धां अमुतः करम्।
यथा इयं इन्द्र मीढ्वः सुऽपुत्रा सुऽभगा असति॥"

(ऋ० १०, ८५, २५)

"इस स्थान से अर्थात् इस पितृगृह से मैं तुझे मुक्त करता हूँ, किन्तु उस दूसरे स्थान से तुझे छुट्टी नहीं है। मैं तुझे पतिगृह से अच्छी तरह बाँध देता हूँ। हे इन्द्र, हे परमेश्वर, हे मनोरथवर्षक, इस वधु को सुपुत्रवती एवं सौभाग्यवती बना।"

पाणिग्रहणसंस्कारपूर्वक गृहिणी-जीवन में प्रवेश करने वाली वधु इस दिव्यत्व की आकांक्षा से युक्त होने के कारण ही वैदिक राष्ट्र के ऋषि अपने मित्रों के समक्ष उसे आशीर्वाद देते हुए कहते थे—**"सुमंगलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत। सौभाग्यं अस्मै दत्वाय अथ अस्तं वि परा इतन।"** (ऋ० १०-

८५-३३) "यह वधु उत्तम भाग्य से युक्त है। आओ, पास आकर इसे देखो और इसे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देकर फिर अपने अपने घर जाओ।"

ऋग्वेद एवं समस्त वैदिक साहित्य के संकेत यही प्रगट करते हैं कि वैदिकों को विवाह की आवश्यकता धर्म, प्रजा एवं रति के लिए थी। संतति वे अवश्य चाहते थे, किन्तु ऐसी जो असामान्य कर्तृत्वसंपन्न व देवत्व के मार्ग का अनुसरण करने वाली हो (**देवानां एति पाथः**)। अपनी संतति की ओर देखते हुए वे कहते हैं—"**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्**" (ऋ० ५-४-१०) "प्रजा के द्वारा हम अमर हो सकें ऐसा वरदान दो।" अथर्ववेद में वैदिक गृहिणी ने अपनी आकांक्षा इन शब्दों में व्यक्त की है—

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥

(मेरे पुत्र शत्रु का निःपात करने वाले तथा तेजस्वी हों। मेरी पुत्री अत्यन्त तेजस्वी बने। मैं विजयशालिनी होऊँ तथा मेरे पति की कीर्ति सर्वत्र प्रसृत हो।) किन्तु ऐसी आकांक्षाओं से युक्त होने पर भी वह मर्दों जैसी दिखाई देती होगी, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण के "**स्नुषा श्वशुरा लज्जमाना निलीयमाना एति**" (ससुर के सामने बहू अपने अंगों को ढाँककर लजाते हुए शालीनता से जाती है) सरीखे उद्गारों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक स्त्री की स्त्री-स्वभाव-सुलभ शालीनता उसकी प्रत्येक बात में झलका करती थी। स्त्री को देखते ही सबको मातृत्व की अनुभूति होना चाहिए, यह वैदिक राष्ट्र की स्त्रीसम्बन्धी श्रेष्ठ धारणा थी। स्त्री जीवन के मंगलमय स्वरूप का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में कहा है—"**शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वभ्यः शिवा। शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि।**" (पुरुष, गाय, अश्व, जमीन व यच्चयावत् सभी के लिए मंगलमय बनकर तू हमें मांगल्य की प्राप्ति करा दे)। इस प्रकार के स्त्री जीवन के द्वारा यदि समस्त संसार "**अवघाचि सुखाचा**" अर्थात् संपूर्ण रूप से सुखमय हो जाय तो आश्चर्य ही क्या? उत्कृष्ट कुटुम्ब का चित्रण करते हुए अथर्ववेद कहता है—

सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यं अभिहर्यत वत्सं जात निवाघ्न्या॥१॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवाम्॥२॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चा सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥३॥

—अथर्ववेद ३, ३०

"मैं तुम लोगों को अविद्वेषी, समानचित्तवृत्तियुक्त एवं प्रीतिसंपन्न बनाता हूँ। गाय का बछड़े से जैसा प्रेम होता है वैसा ही प्रेम तुम लोगों का भी एक दूसरे से हो ॥१॥ पुत्र पिता के अनुकूल व माता से समानमनस्क होवे। भार्या पति से मधुर एवं सुखदायक वाणी बोले ॥२॥ भाई से भाई द्वेष न करे व बहिन भी बहिन से रार मोल न ले। वे सब आपस में परस्परसम्मत एवं सव्रत होकर मधुर संभाषण करें ॥३॥

वीर, विदुषी एवं भक्तिमती

वैदिक राष्ट्र की स्त्रियाँ उत्कृष्ट गृहिणी होने के साथ साथ श्रद्धालु एवं भक्तिमती भी हुआ करती थीं। वे ब्रह्मवादिनी हुआ करती थीं यह तो हमने देखा ही है। किन्तु ऋग्वेद में मुद्‌गलानी व विश्पला का जो वर्णन है उससे पता चलता है कि वे शस्त्रविद्या में निष्णात, शूर एवं धैर्यशाली भी हुआ करती थीं तथा विशेष प्रसंगों पर रणांगण में तहलका भी मचा दिया करती थीं। ऋग्वेद में मुद्‌गलानी व विश्पला का पराक्रम दर्शानेवाले जो सूक्त हैं वे इस दृष्टि से मननीय हैं। मुद्‌गलानी भर्म्याश्व के पुत्र मुद्‌गल की पत्नी थी। उसका पति मुद्‌गल सुसंपन्न था तथा उसके पास कई दुधारू गायों के झुंड व अनेक बैल थे। एक बार मौका ताककर चोरों ने उसका गोधन लूट लिया। तब मुद्‌गल ने उनका पीछा करना चाहा। किन्तु गाय, घोड़े, बैल आदि सारे ही जानवर चोरों द्वारा चुरा लिये जाने के कारण रथ में किसे जोता जाय, यह समस्या उत्पन्न हुई। सार में एक बूढ़ा बैल मात्र शेष था। उसी को रथ में जोतकर वह चोरों का पीछा करने के लिए निकला। उस समय उसकी पत्नी मुद्‌गलानी उसका सारथ्य कर रही थी। उसने उसी बैल को इतनी कुशलता से भगाया कि उसके धैर्य एवं सारथ्यकौशल से ऋग्वेद सूक्त के द्रष्टा भी चकित हो गये। मुद्‌गलानी के भरोसे ही मुद्‌गल ने चोरों को परास्त कर अपना गोधन वापस लाया। उसका वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा है—

उत् स्म वातः वहति वासः अस्याः अधिऽरथं यत् अजयत् सहस्रम् ।
रथीः अभूत् मुद्‌गलानी गोऽइष्टौ भरे कृतं वि अचेत् इन्द्रऽसेना ॥२॥
उत् प्रऽधि उत् अहन् अस्य विद्वान् उप अयुनक् वंसगं अत्र शिक्षन् ।
इन्द्रः उत् आवत् पतिं अघ्न्यानां अरंहत पद्याभिः ककुत्ऽमान् ॥७॥
परिवृक्ताऽइव पतिऽविद्यं आनट् पीप्याना कूचक्रेणऽइव सिंचन् ।
एषऽएष्या चित् रथ्या जयेम सुऽमंगलं सिनऽवत् अस्तु सातम् ॥११॥

—ऋग्वेद दशममंडल, सूक्त १०२

"प्रख्यात योद्धा मुद्‌गल की पत्नी मुद्‌गलानी जब उसके पास ही रथ में बैठी हुई थी, तब उसका अंचल हवा के कारण सतत रूप से उड़ रहा था।

किंतु मुद्गलानी का उस ओर किंचित् भी ध्यान नहीं था। भूमि एवं धेनु के लिए चल रहे युद्ध में रथी बनकर व आगे बढ़कर उसने हजारों सैनिकों का निःपात किया। तब उसे पता चला कि इंद्र ने ही उसकी सहायता के लिए अपनी सेना भेजी थी ॥२॥ वह जोर जोर से चिल्लाती हुई गाड़ी को तेजी से आगे भगाने लगी। तब वह बैल भी भड़क उठा एवं बेभान होकर गाड़ी सहित यहाँ वहाँ भागने लगा। उस समय उसके खुरों से उड़ाई गई धूल से मुद्गलानी का अंग पूरा सन गया ॥७॥ एक परित्यक्ता स्त्री को जिस प्रकार उसका पति अचानक प्राप्त हो जाय या जिस प्रकार पुष्ट पयोधर भार से तना हुआ स्त्री का स्तन दुग्धस्राव करने लगे अथवा चके के द्वारा खींची गई पानी से टंच फूली हुई मोट जिस प्रकार रिक्त हो जाय, उसी प्रकार यह भी हुआ। लगन के साथ कार्य करने वाली मुद्गलानी को देखकर सैनिकों को लगा कि उसके नेतृत्व में हम अवश्य ही विजयी होंगे। अतः उनका यश चंद्र सरीखा निष्कलंक एवं मंगलप्रद होवे ॥११॥

विश्पला का चरित्र तो इससे भी अधिक अद्भुत है। विश्पला विदुषी के नाते प्रसिद्ध थी। शौर्य एवं पांडित्य दोनों का ही उसमें प्रकर्ष हुआ था। वह खेल नाम के राजा की पत्नी थी। एक बार राजा के लिए युद्ध का प्रसंग उपस्थित हुआ। उस समय अपने पति के साथ सहभागी होकर उसने युद्ध में भाग लिया। शत्रुओं ने जब उसे घेर कर भयानक आक्रमण किया, तब उसमें उसका पैर टूट गया। किंतु तब भी वह विचलित नहीं हुई। उसने इस संकट में सहायता के लिए अश्विनीकुमारों की प्रार्थना प्रारम्भ की। तब उन्होंने अत्यंत कुशलतापूर्वक उसके एक दूसरा कृत्रिम पैर लगा दिया, जिसकी सहायता से उसने दूसरे दिन शत्रु के ऊपर चढ़ाई कर विजय प्राप्त की। ऋग्वेद के दो मंत्रों में विश्पला का वर्णन आता है, जो इस प्रकार है—

याभिर्विश्पलां धनसां अथर्व्यं सहस्रमील्हे आजौ अजिन्वतम् ।
याभिर्वशं अश्व्यं प्रेणि आवतं ताभिः ऊ षु ऊतिभिः अश्विना गतम् ॥

—ऋ० १-११२-१०

(हे अश्विनीकुमारो ! जिस भक्तरक्षक सामर्थ्य से आपने अथर्व्य कुल में उत्पन्न हुई धनवान् विश्पला को युद्ध में लड़ने वाले हजारों योद्धाओं से बचाया तथा आप पर निष्ठा रखने वाले अश्वकुल के वंशों का संरक्षण किया, उस सामर्थ्य को साथ लेकर आप यहाँ शुभागमन करें।)

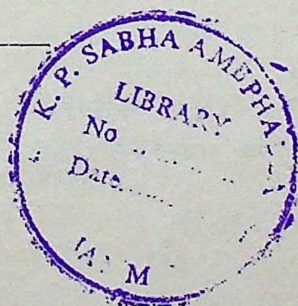
चरित्रं हि वेर् इवाच्छेदि पर्णं आजा खेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जंघां आयसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रति अधत्तम् ॥

—ऋ० १-११६-१५

(जिस प्रकार किसी पक्षी का पंख टूट जाता है, उसी प्रकार खेल राजा के युद्ध में विश्पला का पैर टूट गया। किन्तु आपने यह सोचकर कि युद्धारंभ होते ही वह समरांगण में जहाँ चाहे आ जा सके, तुरंत ही उसके एक लोहे का पैर लगा दिया।) शूर व ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के अतिरिक्त भक्तिमती स्त्रियाँ भी वैदिक राष्ट्र में दिखाई देती हैं। इस संबंध में अपाला की कथा बड़ी विलक्षण है। रामायण की शबरी के समान वह देवेन्द्र की बड़ी भक्त थी। भगवान रामचंद्र जी ने जिस प्रकार शबरी के जूठे बेर खाने में परमानंद का अनुभव किया था उसी प्रकार देवेन्द्र ने भी भक्ति विह्वल अंतःकरण से अपाला द्वारा दाँत से कूटी हुई सोमवल्ली के रस को ग्रहण किया।

इस प्रकार ब्रह्मवादिनी, शूर, भक्तिमती, जीवन में देवत्व उत्पन्न करने की इच्छा करने वाली तथा अपने संस्कारित जीवन से मातृत्व के वात्सल्य की अविरत वर्षा करने वाली आर्य स्त्री का हमें वैदिक साहित्य में दर्शन होता है। उसके जीवन से आज के भारतीय स्त्री-जीवन के आदर्श विनिर्मित हुए हैं। अब तक हमने वैदिक राष्ट्र के अंतरंग का जो विचार किया उससे कोई भी चाणाक्ष व्यक्ति यह सहज समझ सकता है कि वैदिको के नैतिक दृष्टिकोण एवं समाज जीवन के संकेतों की निर्मिति अंतर्जीवन के कुछ शाश्वत तत्वों के आधार पर हो, जिन्हें हम आध्यात्मिक कह सकते हैं, हुई होगी। किंतु आज यह एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है कि क्या वास्तव में वैदिकों का आध्यात्मिक अंतरंग इतना अधिक विकसित हुआ था? श्री रानडे सरीखे श्रेष्ठ तत्वज्ञ भी इस संबंध में किंचित् संशयग्रस्त दिखाई देते हैं। आधुनिक तत्वज्ञों में लोकमान्य तिलक ही ऐसे हैं जो इस संबंध में पूर्णरूप से निःशंक हैं। यह बात गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण से स्पष्ट हो जाती है। आइये, आगे के खण्ड में वैदिक साहित्यमंदिर के इस अंतराल में प्रवेश कर हम भी वैदिक राष्ट्र के आध्यात्मिक अंतरंग का दर्शन करें।

———


K. P. SABHA AMEPHA
LIBRARY
No ....
Date........
M

शब्दानुक्रम

अग्नि २०, २१, २२, २७, ७६, ७८, ८०, ८१, ८४, ८६, १२६
अग्नि परिचर्या ९१, ९३
अग्निवेश्य ८७
अग्निसूक्त २०
अजातशत्रु ११२
अतीन्द्रिय अनुभूति ३५
अतीन्द्रिय विश्व ३५
अतीन्द्रिय सृष्टि ७१
अथर्ववेद १६, ६३, ७२, ७४, ७५, ७६, ७७, ७६, ८७, ९४, ९६, १००, १०६, ११२, १२२, १३२
अद्वैतमत १०२
अनार्य १०, ३१, ३२, ४७, १२६
अपाला ३७, १३४, १३५
अप्पय्या दीक्षितार १०२
अप्रबुद्ध पावगी ३२, ३४
अफ्रीका ३०
अब्दुल रहमान ११
अमेरिका ११३
अयास्य ४६
अयोध्या १०८
अर्जुन ६५, १००, १२६
अर्थशास्त्र ६८
अर्यमा ६२, ८१, १३०
अरविन्द घोष ३३, ३८
अल इद् रिसी ६६
अश्मारोहण ८१
अश्वसारथ्य १०६

अश्विनी कुमार १३४
अस्यवामस्य सूक्त १६, २८
अत्रि ऋषि ६४
अंकगणित २६
अंगिरस ५०

आईन्स्टीन ३३, ३५, ३८
आकाश ५८
आख्यान सूक्त ५०, ५१
आत्मा का अमरत्व ३५
आधिदैविक विचार ३०
आप ७८
आपस्तम्ब (ऋषि) ७१, ८६, ८७, १०७
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ७१
आपस्तम्ब धर्मसूत्र ७४
आयुर्वेद ८६, ९०, १०२
आर्य १०, १८, ३१, ३२, ४७, १२६
आर्यन् १०
आलतेकर, डा० अ० स० ९७, १२६
आश्रम पद्धति ७०
आश्वमेधिक व्रत ८४
आश्वलायन गृह्यसूत्र ८२
आत्रेय ८७

इंग्लैंड ३३, ११२
इंडो-यूरोपियन भाषायें ३१
इंद्र १४, २५, २७, ४२, ४७, ४८, ४६, ५०, ७७, ८१, ८३, १०६, १३३

इतिहास पुराण १०९
इब्नबतूता ७०

उज्जैन १०७
उत्तंक १०६
उत्तर ध्रुव १०
उत्तररामचरित १२५
उत्सर्जन संस्कार ८७
उपनयन संस्कार ७१, ७४, ७५, ७६, ७९, ८१, ८४, ८९, ९०, १०२, ११०, १२२, १२३, १२५
उपाकर्म संस्कार ८४, ८५, ८६, ८७
उपाध्याया १२५
उपाध्यायिनी १२५
उर्वशी ६५
उलूपी १२६

एकनाथ १००
एक-राष्ट्रीयत्व ११६, ११७
एकलव्य १००
एंजल्स ५५
ऐतरेय ब्राह्मण १४, १२३

ऋग्वेद ११, १२, १४, १८, १९, २१, २६, २७, २८, २९, ३२, ३३, ४०, ४१, ४३, ४६, ४७, ५०, ५१, ५९, ७४, ८७, १०९, १२१, १२८, १३१, १३३, १३४
ऋणानुबन्ध ३५
ऋतुचक्र २६
ऋत्विज ९, १८, २५
ऋषिऋण ९१

कण्व ९२, ९८
कनिष्क ११२
कर्मतत्त्व ३५
काठक संहिता १०९
कादम्बरी ९८
कालिदास ४२, १०३
कीथ, डा० ३१
कुटुम्ब संस्था २२, ५४
कुशान १२६
कूर्म पुराण १०४
केतकर, डा० १७, १८, १९, २४, ३०, ३७, ४०, ४२, ४६
कोशल देश १०३
कौटिल्य ९८
कौटिलीय अर्थशास्त्र ११२
कौंडिण्य ८७
कौत्स १०६
कौशल्या १२३
कृतविद्य ८९, १०३, १०६
कृष्ण भगवान ९८, १०७
कृष्ण द्वैपायन ८७

खड्ग ९०
खनिज विद्या १०९
खरगबन्धाई ९०
खेल, राजा १३४

गदा ९०
गायन कला १०९
गायत्री मन्त्र ६९, ७५, ८३, १२५
गायत्री विद्या १०१
गायत्री वृत्त ८१
गार्गी १२५
गार्हपत्याग्नि ६२
गिर्गलिंग २४
गीतारहस्य ११, २९, १३५
गीता ४१, ५६

गुरुकुल ११५
गुरुदक्षिणा ७८, १०३, १०५, १०६, ११८
गुरुपूर्णिमा १००
गुरु विद्या १०९
गूढ़ विद्या १०९
गोदान संस्कार ८८
गोपथ ब्राह्मण ७७, ८३, ९३, ९४, ९५, ९६, १०१, १०७
गोभिल गृह्यसूत्र १२३
गोल्डकोस्ट ३०
गौतम ऋषि १०७
गृहस्थ ९८
गृहस्थधर्म १२८
गृहस्थाश्रम ७०, ८८, ९२, ११६, ११८, १३१
गृह्याग्नि १२३

घोषा ३७, १२३

चन्द्र या चन्द्रमा १६, २४, ७८
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ११२
चातुर्वर्ण्य २६
चितिकर्म या चिनाई १०९

छन्दः शास्त्र १०९
छान्दोग्योपनिषद् २८, ९०
छुरिका बन्धन ९०
छः अनादि २८

जगती वृत्त ७५, ८२
जनक, राजा १०५, ११२, १२४, १२५
जलनाड़ी यन्त्र २६
जापान १२३
जाबालि ९८
जैन ६५
जैमिनी ८७, १२५, १२७
जैमिनी गृह्यसूत्र ७५
ज्योतिष शास्त्र ६, १०९

डांगे, कामरेड श्री० अ० १९, २१, २४, २६, २७, २९, ३९, ५४, ५५, ५९, ६४, १२७

तवल्कार ऋषि ८७
तित्तिरी ऋषि ८७
तिलक, लोकमान्य ११, २४, २९, ३४, १३५
तुकाराम महाराज २४, १०१
तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्र ३४
तुलसीदास १००
तैतिरीय संहिता १०९
त्वष्टा ५५

दक्षिणा द्रव्य २५
दाशराज्ञ युद्ध ३७
दास १२६
दिति ६१
दीक्षान्त उपदेश ११७
दीक्षान्त समारम्भ ८८
दुंदुभी १६, १७, ५५
देव ऋण ९१
देव जीवन ३५
देवतावाद २९, ३०, ३७
देवव्रत ९२
दंपति जीवन २७
द्युलोक १६, ५७, ७६, ७७, ८२
द्यूतसूक्त ५१, ५३, ६१
द्यौ ७४

द्रविड़ १०
द्रविड़ संस्कृति १०
द्रुपद ९८
द्रोण ९८, १००

धनुष ९०
धनुर्वेद ८९, ९०, १००, १०९
धर्मपाल ११२
ध्यानयोग ३५
ध्वनिशास्त्र १०४

नवग्व ५०
नारशंसी गाथा १०९
नारायण ८२, ८३
नासदीय सूक्त १९, २८
निवृत्तिपरता १७
निरुक्त ३६, ७१
निष्क्रमण ३१
नीतितत्त्व १८, ३०, ४२, ५२
नीतिधर्म ४१
नीतिमत्ता १८, ४६, ६८
नीतिमूल्य ११४
नैष्ठिक ब्रह्मचारी ९०, ९१, ९२, ९३
न्यूटन ३३

पटवर्धन, रामचन्द्र विनायक ३९
पणि ४७, ४८, ४९, ५०
पतंजलि १२५, १२६
परा ३५
परिधि २६
परमेश्वरी तत्त्व १०१
परमेश्वरी शक्ति २९, ३०
पश्यन्ती ३५
पाणिग्रहण संस्कार १२८, १३१
पार्थियन १२६
पारस्कर गृह्यसूत्र ८५
पाषाण युग २१
पितृऋण ९१
पुनर्जन्म ३५
पुरन्धि ६२
पुरुष सूक्त २७
पोप १०८
पंचमहायज्ञ ८५
पंजाब १११, १२६
पंडित परिषद ८९
पृथ्वी १६, २४, २६, ५८, ७४, ७६, ७७
प्रलयकाल ३४
प्रलयोत्तर काल ३८
प्रलयपूर्व काल ३७, ३८
प्रवृत्तिपरता १७
प्रश्नोपनिषद् १०३

बढ़ईगिरी १०६
बाणभट्ट ९८
बादरायण १२५, १२६, १२७
बोधायन ऋषि ८७, ९०
बोधायन गृह्यसूत्र ८५
बोधायन धर्मसूत्र ९४, ९८
बृहदारण्यकोपनिषद् १०५, ११०, १२१, १२४, १२५
बृहद्देवता ५५
बृहस्पति ४७, ४९
ब्रह्म १६, २२, २३, २८, २९, ३९, ७६, ७७, १२२
ब्रह्मचर्य व्रत ७१, ८९, ९४, १२२
ब्रह्मचर्याश्रम ७०, ७१, ७२, ७५, ७६, ८७, ८८, ९०, ९२, ९३, ९७, ११५, ११६

ब्रह्मचारी ७४, ७६, ७७, ७९, ८३, ८४, ८८, ८९, ९१, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ११०, ११६
ब्रह्मवादिनी १२४, १२५, १३३, १३४
ब्राह्मण २६, ७५, ९०
ब्रीक ३१

भग ६२, ८१
भर्म्यश्व १३३
भवभूति १२५
भागवत पुराण ९४, १२२
भागुरी ऋषि ८७
भारद्वाज ८७, १०३
भारद्वाज गृह्यसूत्र ८९
भाला ९०
भाषा शास्त्र ९, ३९
भाषा साम्य ३१
भिक्षा ९४, ९५, ९६
भिक्षाटन ९५
भीम १२६
भीष्म ९२, १०८, १११
भू-मापन के नियम २६
भूमिति शास्त्र २६, १०९
भूस्तर शास्त्र ९, ३९
भोगवाद ४३
भौतिक शास्त्र २६

मध्य एशिया १०
मध्यमा (वाणी) ३५
मनु ६८, ६९, ९६, १०७, ११०, १२१, १२२, १२७
मनुस्मृति ६९, ८२, ९४, १०७, १०९, ११०
मरुद्देवता ४६
मलान, डा० ३८
महाभारत ६१, १००, १०६, १११
माधवाचार्य ११०
मानववंश शास्त्र ३१, ३९
मार्क्स ६३, ६४
मार्कोपोलो ७०
मित्र ५८
मुंज ११२
मुद्गल ऋषि ३७, १३३
मुद्गलानी १३३, १३४
मेक्सिको ३८
मेगस्थनीज ६९
मेधाजनन संस्कार ८३
मेधातिथि ८२, १२७
मैसूर ७५
मैत्रेय १०१
मैत्रेयी १२४
मोहन्जोदड़ो १०
मौंजीबन्धन ७४
मौद्गल्य १०१, १०२
मौर्य, चन्द्रगुप्त ६९, ९८
मंडन मिश्र १०२
मृत्युदेव ७८

यजुर्वेद ८७
यम ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ८१
यमी ५५, ५६, ५७, ५८, ५९
यमयमी सूक्त ५५, ५६, ५९, ६१, ६५, १३०
यमस्मृति १२५
यशोवर्मा ११२
यज्ञ १८, २१, २२, २५, २६, ७०, ७१
यज्ञाधिकार १२३, १२६
यज्ञोपवीत ७७, ७९, ८४
यज्ञप्रक्रिया ३५, ३८
यज्ञवेदी २६

यज्ञ संस्था ६
यास्क ३६
याज्ञवल्क्य ८७, ९६, १०५, १२४, १२६
याज्ञवल्क्य स्मृति १२७
याज्ञिक कर्म १०९
युआन च्वांग ९२, १०८
युधिष्ठिर १११
युद्धगीत १६
यूरोप १०

रघु १०६
रघुवंश ४३, १०६
रजोलोक ८२
रमण, चन्द्रशेखर वेंकट ३३, ३८
रमण महर्षि ३८
रथकर्म १०९
रशिया या रूस ११३, ११४
रशियन या रूसी भाषा ६४
रसा नदी ४७, ४८, ४९
रहस्य व्रत ८४
राजपूताना ९०
राजेन्द्रप्रसाद, डा० ८०, ११७
राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ १०४
राणायनि ऋषि ८७
राधाकृष्णन्, डा० ८०
रानडे, आर० डी० १८, १९, १३५
रामकृष्ण परमहंस ९२
रामचन्द्र भगवान १०८, १२३, १३५
रामदास, समर्थ १००
रामायण ६५, ६७, १३५
रोहित १४

लुडविग, ए० ४४
लुहारी १०९
लेनिन ६४
लैटनर, डा० १११
लोपामुद्रा १२३
लौगाक्षि ८२
लौह दुर्ग २६

वरतन्तु १०६
वरुण ४१, ५५, ५८, ७७, ७८
वसिष्ठ १०८
वाजसनेय ब्राह्मण १२१
वानप्रस्थ ९८
वानप्रस्थाश्रम ७०
वायु ७८
वाराह गृह्यसूत्र ८२
वाल्मीकि ६५, ९२, ९८, १२३
वाल्मीकि रामायण १२३, १२४
विंटरनिट्ज, डा० ३७, ४६
विवस्वान् ५५
विवाह सूक्त २८, ६१
विवाह संस्कार ११०
विवाह संस्था २८, ५४, ५९, ६१, ६३, १२७
विवेकानन्द ९२
विश्वजित् यज्ञ १०६
विश्पला ३७, १३३, १३४
विसृष्टि २८
विज्ञान शास्त्र ३६
वुड्राफ, सर जान १९, २९
वेदविद्या १०९
वेदाधिकार १२५
वैदिक जीवनवाद ३९, ४३
वैदिक संस्कृति १०
वैद्यक १०९
वैरवरी सम्प्रदाय ३५
वैशम्पायन ८७

वैश्य २६, ७५, ७६, ८२, ८३, ९०
वंश मिश्रण ३१
व्यक्ति निर्माण ७०
व्यक्तित्व विकसन ७०, ११५
व्यक्तिसुखवाद ४३
व्यावसायिक जीवन २५
व्यास ३७, ३८
व्रातिक व्रत ८४

शक १२६
शतपथ ब्राह्मण ७९
शतरूपा १२२
शतश्लोकी १००
शाहजहाँ १०२
शिल्पशास्त्र २६
शिक्षण पद्धति ६७, ७०, ७१, ७९, ९८, ९९, १००, १०२, ११२, ११५
शिक्षण प्रणाली ६७, ७४, ८०, ११४, ११५
शिक्षण शास्त्र ९०, ९८, ९९
शुक्राचार्य ६१
शूद्र ९०, १२६
शेक्सपियर ३३
शोपेनहर १०, ११
शंकर भगवान ६१
शंकराचार्य, आद्य २९, ९२, १००, १०२
शृंगेरी मठ १०२
श्यातातप ८२
श्रवण नक्षत्र ८६
श्रावणी ८४, ८६
श्रावणी पूर्णिमा ८६
श्रीमद्भागवत ६१
श्रुतिबोध ३९
श्वेतकेतु ८५, ९०

सत्याषाढ ऋषि ८७
सदसद्वाद २२
सद्योद्वाहा १२४
सन्ध्योपासना ९६
सन्यास प्रवणता १७
सन्यासी ९८
सप्तरत्न २५
सप्तलोकात्मक विश्व ३६, ३७
समाज व्यवस्था ७१
समावर्तन संस्कार ८७, ८८, ८९, ९५, १०२, ११०, ११७
समिधा ९३, १०१
समुद्र २६
सरणि ५५
सरमा ४७, ४८, ४९, ५०
सर्प विद्या १०९
सविता ६२, ८१, ८६, ८९
सहस्रस्तम्भयुक्त मन्दिर २६
सत्र २१
सांख्यायन गृह्यसूत्र ८२, ८३
सांदीपनि १०७
सापेक्षतावाद ३३
सामवेद ८७
सामुद्रिक व्यापार २५
सायणाचार्य ३६, ७७
सायबेरिया २१
सावित्री मन्त्र ७५, ८१, ८२, ८३
सांस्कृतिक ऋणानुबन्ध ३१
सिन्ध १०
सीतायज्ञ १२३
सुदामा ९८
सुन्दरलाल, पं० १११
सूर्य १६, २६, ७८, ८१, ८२, ८३
सैन्य प्रशिक्षण ८९, ९०, १०९
सोम २५, २७, ३७, ३८, ४०, ४९,

१२९
सृष्टि २६, २८
सृष्टिक्रम १२२
सृष्टि धर्म १४१
स्टालिन ६४
स्थलनामसादृश्य ३१
स्थापत्य शास्त्र २७
स्पेन ११
स्मार्तग्नि १२३
स्मृति कौस्तुभ १०५
स्मृति चन्द्रिका ८१
स्वर्ग २४, ७४

हनूमान १२४
हरिश्चन्द्र १४
हरिहर ८५
हर्ष ११२
हस्तनक्षत्र ८६
हॉग २४
हारीत १२४
हिडिम्बा १२६
हिमप्रलय ३३, ३७, ३८
हिरण्यनाभ १०३
हिलब्रंट २४
हुएन सांग ६९
हृदय स्पर्शन ८१

क्षत्रिय २६, ७५, ७६, ८२, ९०

त्रिशिरस ५५
त्रिष्टुभ् वृत्त ७५, ८२
त्रैवर्णिक ७४, ७५, ८१, ९०, १०४, १२६

ज्ञानेश्वर २९, १००

संग्रहणीय ग्रन्थ

* मृत्युञ्जय भारत—बाबासाहब आपटे

सुदर्शन चक्र, गणपति, त्रिशंकु, संजीवनी विद्या आदि वास्तव में क्या थे ? अनेक आधुनिक एवं पौराणिक विषयों पर स्वर्गीय आपटे के लेखों व भाषणों का संग्रह। 35.00

* केशवः संघनिर्माता—चं० प० भिशीकर

बहुचर्चित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यप्रणाली व कार्यपद्धति के विकास का इतिहास एक पत्रकार की लेखनी से। 25.00

* जीवन मूल्य (तीन भागों में)—प्र० ग० सहस्रबुद्धे

किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति में गुण होने चाहिये। वे गुण कौन से हों तथा उनका विकास कैसे हो ? विद्वान लेखक अपने कर्मसिद्ध अनुभव से बता रहे हैं। प्रति भाग 20.00

* हिन्दू संस्कृति और सत्तावादी राजनीति—डा० लक्ष्मीनारायण लाल

राजनीति का अधिष्ठान क्या हो—संस्कृति या सत्ता ? विवेचन कर रहे हैं हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार। 20.00

* दहकता पूर्वाञ्चल—भानुप्रताप शुक्ल

भारत का पूर्वाञ्चल दहक रहा है, क्यों ? समस्या के मूल का विश्लेषण कर रहे हैं यशस्वी पत्रकार। अनेकों चित्रों सहित। 25.00

* What Ails India's North-East ?—B.P. Shukla 35.00
* India's Contribution to World Thought & Culture —Chief Ed. Dr. Lokesh Chandra 150.00
* Chhatrapati Shivaji : Arhitect of Freedom —Ed. N.H. Kulkarnee 75.00
* A Study of Industrial Relations in Advanced Countries —V.D. Phadke 65.00
* Bunch of Thoughts—M. S. Golwalkar 50.00
* Hindu Superiority—Harbilas Sarda 67.00
* Is India Civilised ?—John Woodroffe 40.00
* Indian War of Independence 1857 —V. D. Savarkar 60.00

सुरुचि साहित्य

केशवकुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-110055